मैं कुछ होना चाहता हूं

आचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक

मुनि दुलहराज

मूल्य : पचीस रुपये/छठा संस्करण : १९९४/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान)/मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

MAIN KUCHH HONA CHAHATA HUN
Acharya Mahaprajna
Rs. 25.00

प्रस्तुति

मनुष्य मे तीन दुर्बलताए है—क्रूरता, विषमता, स्वभाव की जटिलता।

इन तीनो के परिष्कार सूत्र हैं—करुणा का विकास, समता का विकास, कषाय-नियमन का विकास।

दूसरे शब्दो मे—

क्रूरता समाप्त हो और समता जागे।

विषमता समाप्त हो और समता जागे।

आवेश समाप्त हो और सहिष्णुता जागे।

यही 'मैं कुछ होना चाहता हू' का प्रतिपाद्य है।

'हू' के आगे है 'होना' इसका एक मात्र साधन है—ध्यान।

ध्यान का अर्थ है—चेतना के प्रति जागना और चेतना का साक्षात्कार करना। पहले जागृति और फिर साक्षात्कृति।

चेतना के विहरण-क्षेत्र के आधार पर निर्णय होता है कि मै 'इच्छा-पुरुष' हू या 'प्राणपुरुष' हू या 'प्रज्ञापुरुष' हू। 'कहा है' के द्वारा 'कौन हू' का निर्णय होता है।

जब चेतना नाभि से ऊपर नासाग्र तक विहरण करती है तब 'प्राण-पुरुष' प्रगट होता है। जब चेतना भृकुटि से ऊपर सक्रिय होती है तब 'प्रज्ञा-पुरुष' प्रगट होता है और जब चेतना नाभि के आसपास सक्रिय रहती है तब 'इच्छापुरुष' प्रगट होता है।

जैसे ज्योतिष का सौरमडल है, वैसे ही अध्यात्म का सौरमडल है। ज्योतिष मे नौ ग्रह माने जाते हैं, अध्यात्म मे भी नौ ग्रह हैं। इन सबका प्रभाव होता है।

मनुष्य की विशिष्टता के चार हेतु हैं—

१. प्राणशक्ति के साथ चेतनाशक्ति को विकसित करने का सामर्थ्य।

२ चेतना के नए-नए आयामो के उद्‌घाटन का सामर्थ्य।

३. चेतना के विकास का बोध।

४, चेतना-बोध की क्रियान्विति।

'मैं कुछ होना चाहता हूं'—इस स्वर से यथार्थ की साधना प्रारम्भ होती है और प्रतिबिम्बो से पार जाकर कृतकृत्य हो जाती है।

सचाई को पाने के लिए साक्षात्कार जरूरी है और अपने अनुभवों को

दूसरे तक पहुचाने के लिए बुद्धि और तर्क जरूरी है।

हमारी चेतना के तीन कोण हैं—

रोने वाली चेतना—यह सुख मे से दु ख निकालने वाली चेतना है।

हसने वाली चेतना—यह दु.ख मे से सुख निकालने वाली चेतना है।

पूर्णता की चेतना—यह अपूर्णता को भरने वाली पुरुषार्थ की चेतना है।

आत्मानुशासन के पाच घटक हैं—

श्वास पर अनुशासन

शरीर पर अनुशासन

इन्द्रियो पर अनुशासन

प्राण पर अनुशासन

मन पर अनुशासन

आचार्यश्री ने 'मनोनुशासन' लिखा है। मन की अनुशासना के छह अंग हैं—आहार का अनुशासन, शरीर का अनुशासन, इन्द्रिय का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, इच्छा का अनुशासन, मन का अनुशासन।

मैने इस ग्रंथ पर व्याख्या लिखी। शिविरकाल मे इन विपयो पर विस्तार से प्रवचन करने का अवसर मिला। कुछ विषय और जुडे और 'मै कुछ होना चाहता हू' रूपायित हो गया। इसको पढ़कर यदि पाठक 'होने' की ओर प्रस्थान करेगे तो निश्चित ही वे 'होकर' रहेगे।

आचार्यवर ने मुझे 'होने' की ओर प्रस्थान कराया, प्रोत्साहन दिया और उसकी परिणति का भी साक्षात् किया। यह सब उन्ही की अनुकम्पा है। इसका संपादन मुनि दुलहराजजी ने किया है।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

इच्छा पर अनुशासन

आचार्य तुलसी तेरापथ धर्मसघ के और अणुव्रत के अनुशास्ता हैं। अनुशास्ता को सहज ही अनुशासन-प्रिय होना होता है। उन्होने एक ग्रन्थ लिखा है—'मनोनुशासनम्'। इसका अर्थ है—मन का अनुशासन। वर्तमान युग का सबमे अधिक लुभावना और आकर्षक शब्द है—मन का अनुशासन। आज मन की समस्याए जितनी जटिल है उतनी सभवत पहले कभी नही थी। पहले भी मन रहा है, समस्याए भी रही है, किंतु मन की समस्या उतनी जटिल नही रही। आज के उद्योगवाद और परिस्थिति ने आदमी को इतना व्यस्त बना दिया कि मानसिक उद्वेग और आवेग प्रबल हो गए। वर्तमान का युग सचार बहुलता का युग है। घटना कही भी घटित होती है, आदमी उसे जान लेता है। पुराने जमाने मे ऐसा नही होता था। घर की घटना पडोसी से भी अज्ञात रह जाती थी। आज वैसा नही होता। भारत के किसी भी कोने मे घटित होने वाली घटना समूचे विश्व मे क्षण भर मे फैल जाती है। सचार के साधन इतने विविध और तीव्रगामी हो गए है कि बात का फैलाव क्षण भर मे हो जाता है। मानसिक समस्याओ का यह भी एक बडा कारण है। आज के युग ने मानसिक उलझनो के लिए जैसी उर्वर भूमि तैयार की है, वैसी उर्वर भूमि पहले कभी तैयार नही थी। इस स्थिति मे 'मन का अनुशासन'—यह शब्द बहुत आकर्षित करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति को बाध लेता है।

प्रश्न होता है—क्या मन का अनुशासन प्रारम्भ मे ही होने वाली घटना है या इसका भी क्रम है? क्या यह खिचडी को बीच मे से खाने जैसा उपक्रम नही है?

शिवाजी हारते गए। जब कभी उन्होने युद्ध का उपक्रम किया, हार गए। एक बार वे परिवर्तित वेश मे बुढिया के घर पहुचे। बुढिया ने घर आए अतिथि का मनोयोग से आतिथ्य किया। एक थाली मे खिचडी परोसी। घी परोसा। खिचडी गर्म थी। शिवाजी कुछ दिनो के भूखे थे। गर्म-गर्म खिचडी की सुगन्ध ने उनकी भूख को और अधिक तेज कर दिया। खाने की उतावली मे शिवाजी ने खिचडी के बीच हाथ डाला। हाथ जलने लगा। कवल नही ले पाए। बुढिया ने देखा। उसने मुस्कराते हुए कहा—बेटा! लगता है तुम भी शिवाजी जैसे मूर्ख हो? यह सुनते ही शिवाजी चौंके! शिवाजी और मूर्ख! यह कैसे मा! उन्होने पूछा। बुढिया बोली—बेटा!

देख, शिवाजी ऐसा ही तो कर रहा है। वह शत्रु की राजधानी पर आक्रमण करता है। वहा शत्रु सेना का सचय होता है। शिवाजी का आक्रमण विफल हो जाता है। यदि वह पहले आस-पास के छोटे-छोटे कस्बो को अपने अधीन लेता चले तो उसकी शक्ति सचित होती और फिर वह पूरी शक्ति से राजधानी पर आक्रमण कर विजयी हो सकता है। खिचडी को पहले आस-पास से खाते-खाते बीच तक पहुचा जाए तो पूरा काम बन जाता है, अन्यथा नही।

शिवाजी को अपूर्व बोध-पाठ मिला एक अनपढ किंतु अनुभवी बुढिया से।

क्या मन का अनुशासन गर्म-गर्म खिचडी को बीच मे से खाने जैसा उपक्रम नही है ? क्या कोई भी व्यक्ति मन को पकड सका है ? जिसने भी सीधा मन को पकडने का प्रयत्न किया है वह या तो मन को पकड ही नही सका और यदि मन को पकडा है तो बीच मे ही अटक गया है, उलझ गया है। पहले खिचडी को ठण्डी होने की जरूरत है, फिर धीरे-धीरे आस-पास से खाते-खाते बीच तक पहुचना है।

मेरी दृष्टि मे इस ग्रन्थ का नाम होना चाहिए था 'इच्छानुशासन'—इच्छाओ का अनुशासन, इच्छाओं पर अनुशासन। पर ग्रन्थ का नाम रखा है—मनोनुशासनम्, मन का अनुशासन, मन पर अनुशासन। यह एक बहुत बडी सचाई है कि सामने वही आता है जो दिखता है। जो ढका पडा है वह कभी सामने नही आता। नीव के आधार पर कोई नामकरण नही होता। झण्डो के आधार पर नामकरण होता है। झंडा सबको दिखाई देता है। नीव का पत्थर कभी दिखाई नही देता। नीव मे जो रहा हुआ है, उसे कोई आगे लाना नही चाहता। आगे वही लाया जाता है, जो दिखता है।

मन चंचल है, यह हम जानते है। वह चंचल क्यो है, यह हम नही जानते।

'मनोनुशासनम्' मे मन के अनुशासन की एक पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है। इस प्रक्रिया के छह अंग है—

१. आहार का अनुशासन।
२. शरीर का अनुशासन।
३. इन्द्रिय का अनुशासन।
४. श्वास का अनुशासन।
५. इच्छा का अनुशासन।
६. मन का अनुशासन।

मन का स्थान छठा है। उससे पूर्व इच्छा का स्थान है। प्राणी का लक्षण है आहार करना। प्राणी का लक्षण है शरीर का होना। प्राणी का

लक्षण है इन्द्रिय-चेतना का होना। प्राणी का लक्षण है श्वास लेना, बोलना, सोचना, चिन्तन-मनन करना। किन्तु आज इस यांत्रिक युग मे ये सब लक्षण डगमगाने लगे हैं। यन्त्रो का इतना विकास हुआ है, हो रहा है कि प्राणी की पूर्व-निर्धारित लक्षण सूची अस्त-व्यस्त हो रही है। कम्प्यूटर के आविष्कार ने सारे मानव मस्तिष्क मे हलचल पैदा कर दी है। कम्प्यूटर गणित करता है और कविता भी करता है। वह रोग का निदान करता है तो साथ-साथ औषधियो का प्रेस्क्रिप्सन भी करता है। वह किसी पढे-लिखे डॉक्टर से अच्छा निदान करता है और रोग निवारण का सुझाव देता है। सोचना और चिंतन करना—प्राणी का यह लक्षण भी डगमगा गया। कम्प्यूटर आदमी से अच्छा सोचता है, अच्छा निर्णय लेता है।

इच्छा प्राणी का अकाट्य लक्षण हो सकता है। कम्प्यूटर और कुछ कर सकता है, इच्छा नही कर सकता। इच्छा प्राणी का गहनतम लक्षण है। यह एक ऐसी विभाजक रेखा है जो केवल प्राणी मे ही होती है, अप्राणी मे नही होती। सोचना मस्तिष्क का काम है। कम्प्यूटर भी एक प्रकार का मस्तिष्क ही है। वह मनुष्य के द्वारा बनाया गया है। मनुष्य के शरीर मे रहने वाला कम्प्यूटर (मस्तिष्क) प्रकृति-प्रदत्त है। श्वास भी शरीर मे होने वाली प्रक्रिया है। श्वास का केन्द्र शरीर मे है। इच्छा शरीर के साथ चलने वाला यन्त्र नही है। बहुत गहरे मे जाने पर उसका पता चलता है। यह भावना-जगत् मे होने वाला एक आश्चर्य है। यह एक ऐसा दरवाजा है जो सूक्ष्म शरीर से आता है और स्थूल शरीर मे खुलता है। इसी ग्रन्थि के आधार पर आकाक्षा और इच्छा पैदा होती है और उस इच्छा के आधार पर सारे कार्य चलते है।

मन चचल होता है इच्छा के द्वारा। इच्छा होती है अन्तर्मन मे, गहरे सूक्ष्म जगत् मे और मन बेचारा चचल हो जाता है। वह चक्कर काटने लग जाता है। हम पकडना चाहते है मन को। वह हाथ मे कैसे आएगा ?

एक पखा तेजी से चल रहा था। एक ग्रामीण आया। उसे इतनी तेज हवा अच्छी नही लगी। उसने सोचा पखे को बन्द कर दू। उसके हाथ मे लाठी थी। वह उठा और लाठी को पखे से अडा दिया। लाठी भी लड़खडाई और पखे की ताडिया भी लडखडाई। उसने यह सोचकर लाठी नीचे कर दी कि सम्भवत पखा रुक गया है। पखा फिर चलने लग गया। फिर तेज हवा आई। वह घबरा गया। उसने पखे पर लाठी से दो चार प्रहार किए। लाठी भी टूट गई और पखा भी हानिग्रस्त हो गया। उसने सोचा—पंखा जिद्दी है। इतना करने पर भी बन्द नही होता।

क्या हम भी ऐसा ही नही कर रहे हैं ? मन का पंखा चल रहा है। हम उसे बन्द करना चाहते हैं, पर स्विच ऑफ करना नही चाहते। जिस

प्रेरणा से मन का पंखा गतिशील हो रहा है, उस प्रेरणा को रोकना नही चाहते। पंखा चलता है विजली के प्रवाह से। स्विच ऑन करते ही विजली प्रवाहित होने लग जाती है। उसको रोके विना पंखा नही रुक सकता। ताड़िया स्वत. नही चलती। वे चलती हैं पीछे की प्रेरणा से। जब तक वह प्रेरणा रहेगी, पखा चलता ही रहेगा। हम कह देते हैं—पखा धूर्त है, चचल है, वन्द नही होता। कैसे होगा वन्द ?

हम उस अनपढ ग्रामीण की भाति मन के साथ वही व्यवहार करते जा रहे है। सीधा मन को रोकने का प्रयत्न करते हैं। लाठी से उसे रोकना चाहते है। वह नही रुकता। मन का पंखा तव वन्द होगा जव उसको गति देने वाली प्रेरणा को रोक देंगे। वह प्रेरणा है—इच्छा। इच्छा का वेग मन को वेग दे रहा है। इच्छा की विद्युत् के आवेश आते है, उसकी तरगें आती है और मन वेचारा घूमने लग जाता है। इच्छा दिखाई नही देती। वह विद्युत् का आवेश दिखाई नही देता। ताड़ियां दिखाई देती है। आदमी उन्ही के साथ लड़ने लग जाता है। परिणाम कुछ भी नही आता। आदमी दस वर्ष, पचास वर्ष या सौ वर्ष भी लडता चला जाए, कोई परिणाम नही आएगा। वह लड़ाई तव वन्द होती है जब इच्छा को पकड लिया जाता है। इच्छा है तो प्रमाद भी होगा, कषाय भी होगा, योग और चंचलता भी होगी। हम चंचलता को नही मिटा सकते। हम क्रोध आदि आवेशो को, कषाय और प्रमाद को नही मिटा सकते, जब तक हम क्रोध की उत्पत्ति की मूल प्रेरणा को नही पकड लेते। इसलिए इच्छा पर अनुशासन करना वहुत जरूरी है।

एक छोटा वच्चा वदमाशी कर रहा था। वह किसी के कपडे, किसी की पुस्तके और किसी के रूमाल फेंक रहा था। दूसरे ने कहा—वच्चे! ऐसा क्यो कर रहे हो ? उसने तपाक् से उत्तर दिया—मेरी अपनी इच्छा है। तुम कौन होते हो कहने वाले ?

सारी दुनिया मे इससे वड़ा कोई उत्तर नही हो सकता।

आदमी सड़क के बीच वैठ गया। पथिक ने पूछा—वीच मे क्यो वैठे हो ? उसने कहा—मेरी इच्छा है। कौन है रोकने वाला ?

पत्नी ने पति से कहा—आप वीमार हैं। डॉक्टर ने नमक न खाने के लिए कहा है। आप क्यो खाते है नमक ? पति ने कहा—मुझे क्या खाना है और क्या नही खाना है, मेरी अपनी मर्जी है। कौन होता है डॉक्टर और कौन होती हो तुम, मुझे मनाही करने वाली।

'मेरी इच्छा'—यह सवसे वड़ा उत्तर है। इसके सामने सव अनुत्तर है। परन्तु मनुष्य ने यह अनुभव किया कि इच्छा शाश्वत नही है, देशातीत और कालातीत नहीं है। हर स्थान पर, हर वार इच्छा को चलाया नही

जा सकता। इस अनुभव के परिणाम स्वरूप इच्छा पर अनुशासन करने की बात प्राप्त हुई। उसने सोचा—जो भी इच्छा जागे, जो भी तरग उठे, जो भी विकल्प उत्पन्न हो, उसे सर्वत्र लागू नही किया जा सकता। उस पर नियन्त्रण होना चाहिए, अनुशासन होना चाहिए। इसके आधार पर समाज ने एक सूत्र दिया—इच्छा-परिष्कार। इच्छा का परिष्कार करना चाहिए। इच्छाए अपरिष्कृत होती हैं। यदि इच्छा के अनुसार आदमी चलता चले तो हमारा यह सभ्य समाज आदिवासियो का समाज बनकर रह जाएगा। व्यक्ति के मन मे अनेक प्रकार की इच्छाए जाग सकती हैं। यदि वह सब इच्छाओ को क्रियान्वित करता है तो समाज मे कोई जी नही सकता। मन मे मारने की इच्छा जागती है और वह किसी को मार डालता है। मन मे धन लूटने की इच्छा जागती है, दूसरे के घर पर कब्जा करने की इच्छा जागती है और वह धन लूटता है, दूसरे के घर पर कब्जा करता है। पूछने पर उसका उत्तर होता है—मेरी इच्छा हुई और मैंने वैसा कर डाला। कौन है मुझे रोकने वाला, कहने वाला ? इस स्थिति मे न्याय की सारी व्यवस्थाए अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इसलिए समाज ने इच्छा-परिष्कार का सूत्र दिया। इच्छा का परिष्कार या शोधन होना चाहिए। इच्छा वही मान्य हो सकती है जो दूसरो की इच्छा मे बाधक न बने, दूसरो को क्षति न पहुचाए, बाधा न पहुचाए। इच्छा के परिष्कार के बिना सभ्य समाज का निर्माण नही हो सकता।

कभी-कभी परिष्कृत इच्छाए भी खतरा पैदा कर देती हैं। समाज उनको मान्य कर लेता है, पर वह उन खतरो से बच नही सकता। समाज द्वारा यह मान्य है कि पति-पत्नी का सगम हो सकता है। यह व्यक्ति की परिष्कृत इच्छा का नियम है। किन्तु आदमी यदि इसको सर्व सामान्य बनाकर इच्छापूर्ति करता चला जाए तो वह वासना के भवर मे गिरकर अनेक रोगो का शिकार हो सकता है। उसकी सारी कार्यजाशक्ति नष्ट हो सकती है।

इस परिस्थिति मे उसे इच्छा के परिष्कार से आगे भी कुछ सोचना चाहिए।

पढना है। स्वयं को अध्ययन करना है। दूसरो को कोई आपत्ति नही हो सकती। किन्तु कोई व्यक्ति यदि चौबीस घटा पढता ही चला जाए तो उसकी आखे खराब हो जाएगी और मस्तिष्क विकृत हो जाएगा।

इच्छा का भी परिष्कार होना चाहिए। परिष्कृत इच्छा के लिए भी सयम और अनुशासन आवश्यक होता है।

आयुर्वेद मे एक सिद्धात के तीन अवयवो की चर्चा है। वे तीन अवयव है—योग, अयोग और अतियोग। अयोग हो तो कोई बात पनपती ही नही।

किसी व्यक्ति को शिक्षा का अयोग हो तो वह नितात मूर्ख ही बना रहेगा। अतियोग भी हानिकारक होता है। कोई व्यक्ति रात-दिन पढता ही रहे तो शक्ति-शून्यता आ जाएगी। वह कुछ भी नही कर पाएगा। न अयोग हो और न अतियोग हो, किन्तु योग होना चाहिए। दिन मे २-४ घण्टे पढ़ा, विश्राम किया, फिर पढा, फिर विश्राम किया। यह है इच्छा पर अनुशासन। योग का अर्थ है— परिष्कृत इच्छा पर नियत्रण, संयम।

अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—इच्छा पर अनुशासन होना चाहिए। पर प्रश्न उठता है, अनुशासन का उपाय क्या है? क्या कोई जबरन नियत्रण कर दे? नही। अनुशासन स्वय जागे। मनोनुशासनम् मे इसकी पूरी प्रक्रिया बताई गई है।

हमारे शरीर मे इच्छा और भावना के सभी केन्द्र है। प्रत्येक वृत्ति का केन्द्र हमारे शरीर में है। झगडालू वृत्ति का केन्द्र है तो क्षमा का भी केद्र है। वासना का केन्द्र है तो वासना-विजय का भी केन्द्र है। अशाति का केन्द्र है तो परम शाति या निर्वाण का भी केन्द्र है। शरीर इन सब केन्द्रो से भरा पडा है। केवल प्रक्रिया को जानने की जरूरत है कि कौन-सा बटन दबाने से कौन-सा केन्द्र सक्रिय होता है।

सुदूर अतीत से आदमी के समक्ष एक प्रश्न आता रहा है—'मै कौन हू?' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अनेक चर्चाए हुई है। कोऽहं, कोऽहं, कोऽहं की रट हजारो वर्षो से हजारों साधक लगाते रहे है। हजारो साधको ने अपने अस्तित्व तक पहुचकर इस प्रश्न को समाहित किया है। महर्षि रमण ने इस प्रश्न को बहुत उभारा। वे रटते रहे—मैं कौन हू? मै कौन हू? उनकी पुस्तक है—हू एम आई? (Who am I?) मै कौन हू?

आज मै इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करना चाहता हू। हमे यह जानने की कोई आवश्यकता नही है कि मै कौन हू? मैं आत्मा हू। मैं परमात्मा हू, हम इस बात को भूल जाए। मैं कौन हू—इसे हम शरीर के सदर्भ मे समझें। क्या मै इच्छा-पुरुष हू? क्या मै प्राण-पुरुष हू? क्या मै प्रज्ञापुरुष हू? इसका उत्तर हमे मिल सकता है। कही अन्यत्र जाने की जरूरत नही, किसी ग्रंथ को पढने की जरूरत नही। कुछ भी करने की जरूरत नही। हम यह जान ले कि शरीर मे मैं कहा हू, इसका उत्तर मिला तो 'मै कौन हू'—इसका उत्तर अपने आप ही मिल जाएगा।

शरीर के तीन भाग है—१ हृदय से ऊपर का भाग, २. नाभि के पास का भाग और ३. नाभि से नीचे का भाग। साधक को सोचना चाहिए कि शरीर के इन तीनो भागों मे मेरी चेतना, मेरा अन्तर्मन कहा रहता है? चेतना नाभि के ऊपर वाले भाग में अधिक रहती है या नाभि के नीचे वाले भाग मे। जहा चित्त या चेतना अधिक रहेगी वहा के चक्र या चेतना-केन्द्र

अधिक सक्रिय होगे। नाभि के नीचे चित्त सक्रिय रहेगा तो वहा के केन्द्र अधिक सक्रिय होगे। हृदय के ऊपर वाले भाग मे चित्त अधिक विहरण करेगा तो वहा के चक्र अधिक सक्रिय होगे। जहा चेतना कम हो जाएगी, वहा निष्क्रियता व्याप जाएगी। जहा चेतना का पोषण मिलेगा, वहा जागृति होगी। जहा पोषण नही मिलेगा, वहा सुषुप्ति होगी। हमको केवल यही निर्णय करना है कि मै कहा हू ? मै शरीर के इन तीन भागो मे से किस भाग मे अधिक रमण करता हू ? इस बात का निर्णय होते ही 'मैं कौन हू' का उत्तर मिल जाएगा। यदि चित्त नाभि के आस-पास घूमता है तो मान लो कि तुम इच्छा-पुरुष हो। इच्छा जागृति का केन्द्र है। सारी इच्छाए यहा जागती हैं। यह अविरति का केन्द्र है। यह चतुर्थ गुणस्थान का केन्द्र है। यहा चतुर्थ गुणस्थान उद्घाटित होता है, प्रकट होता है। यहा इच्छाए पैदा होती है। बार-बार यहा आकर चित्त अटक जाता है। चित्त के कारण यहा का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा जागती रहती है। इच्छाओ का प्रवाह-सा उमड आता है, अविरति की बाढ आ जाती है। एक के बाद दूसरी अविरति की तरग उठती रहती है। यहा निर्णय हो जाता है कि 'मैं इच्छा-पुरुष हू।' यहा इच्छा प्रधान होती है। इच्छाए और इच्छाए। और कुछ नही। उन पर हमारा अनुशासन नही।

यदि चेतना हृदय पर, कठ पर, नासाग्र पर, भृकुटि पर, ललाट के मध्य भाग मे और सिर के ऊपर विहरण करने लगती है, वहा टिकती है तो निर्णय हो जाता है कि 'मै प्राण-पुरुष हू'—मै प्रज्ञा-पुरुष हू। जब चेतना नाभि के ऊपर नासाग्र तक विहरण करती है तो प्राण-पुरुष प्रकट होता है। और जब चेतना भृकुटि से ऊपर जागती है तब प्रज्ञा-पुरुष प्रकट होता है।

चेतना के विहरण क्षेत्र के आधार पर निर्णय होगा कि मैं इच्छा-पुरुष हू या प्राण-पुरुष हू या प्रज्ञा-पुरुष हू। 'कहा है' के द्वारा 'कौन हू' का निर्णय होगा।

जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो ऊपर के केन्द्र जाग जाएगे और नीचे के केन्द्र सो जाएगे। जब चेतना नीचे सक्रिय होगी तो नीचे के केन्द्र जाग जाएगे और ऊपर के केन्द्र सो जाएगे। जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो इच्छा-केन्द्र पर अपने आप अनुशासन स्थापित हो जाएगा। सबसे बडी बात है—नियत्रण के केन्द्रो का बोध होना।

एक महिला मोटर गाडी को तेजी से चला कर ले जा रही थी। सामने से पुलिस की गाडी आई। पुलिस ने कहा—इतनी तेज रफ्तार से मोटर चलाना अपराध है। महिला बोली—मै जानती हू। परन्तु क्या करू, मोटर का नियन्त्रण-केन्द्र मेरे वश मे नही रहा। मेरे हाथ से छूट गया। इतना ही नही, मै भूल ही गई हू कि नियत्रण-केन्द्र है कहा ? वह उसी

रफ्तार से आगे बढी। पेड़ से टकराई। मोटर समाप्त और साथ-साथ चालिका भी समाप्त।

जब नियत्रण-केन्द्र हाथ से निकल जाता है तब समाप्त होने मे किसी को देर नही लगती। जीवन की गाड़ी तब तक ही सुरक्षित चल सकती है जब तक ब्रेक या नियत्रण-केन्द्र हाथ मे रहता है। जब नियत्रण-केन्द्रो से हाथ हट जाता है तो पग-पग पर खतरा ही खतरा नजर आने लगता है।

शरीर मे अनगिनत नियन्त्रण-केन्द्र हैं। मस्तिष्क सबका नियामक है। नाडी-सस्थान, रीढ की हड्डी, सुषुम्ना आदि भी नियत्रण-केन्द्र है। जिस व्यक्ति ने सुषुम्ना मे चित्त की यात्रा करना समझ लिया, मस्तिष्क मे यात्रा करना जान लिया या शरीर के आगे-पीछे, दाए-बाए और ऊपर मे यात्रा करना समझ लिया, उसने बहुत रहस्य समझ लिए। एक नियन्त्रण-केन्द्र शरीर के ऊपर के भाग मे है, एक पीछे के भाग मे है, दाए बाए है, मध्य मे है। हम इन पांच स्थानो पर शरीर को पारदर्शी बना सकते है। हमारा पूरा शरीर चुम्बकीय क्षेत्र है। वह इन पाच भागो मे अधिक चुम्बकीय बन सकता है। जब वह पूरा चुम्बकीय बन जाता है तब अतीन्द्रिय चेतना पैदा होती है—अवधिज्ञान पैदा होता है। अवधिज्ञान के पाच प्रकार बनते हैं—आगे के भाग का अवधिज्ञान, पीछे के भाग का अवधिज्ञान, दाए भाग का अवधिज्ञान, बाए भाग का अवधिज्ञान, सिर पर का अर्थात् मध्य भाग का अवधिज्ञान। शरीर तथा शरीर के नियन्त्रण-केन्द्रो को समझे बिना, इसको कभी चुम्बकीय क्षेत्र नही बनाया जा सकता। इसकी विद्युत् का उपयोग नही किया जा सकता।

इच्छाओ पर अनुशासन करने के लिए जरूरी है नियन्त्रण-केन्द्रो को समझना। इच्छा भीतर से आती है। प्राणशक्ति के साथ काम करती है। यदि प्राणशक्ति का सहारा न मिले तो इच्छा भीतर उत्पन्न होगी पर बाहर मे आकर निष्क्रिय बन जाएगी। भीतर से कोई भी आता है और यदि उसे कोई सहयोग नही मिलता है तो वह निकम्मा बन जाता है। बडे से बडे व्यक्ति को भी यदि स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त नही होता है तो वह आदमी निकम्मा बन जाता है, वह कुछ भी नही कर सकता। प्राणशक्ति का सहयोग अपेक्षित होता है।

एक लेखक ने सपादक को लिखा कि आपके पत्र में कहानिया छपती है, उनके न सिर होता है, न पैर होता है। कितनी अजीब कहानिया छपती है! मै आपको अपनी कहानी भेज रहा हू। उसके सिर भी है, पैर भी है। सम्पादक ने पत्रोत्तर देते हुए लिखा—कहानी अच्छी है। उसके सिर भी हैं और पैर भी है, पर उसमे प्राण नही है, इसलिए वापस लौटा रहा हू।

सिर से भी काम नहीं चलता, पैर से भी काम नही चलता, यदि

प्राण न हो तो। प्राण हो तो सिर भी काम का होता है और पैर भी काम के होते है। मुर्दे का सिर भी काम का नही होता और पैर भी काम के नही होते। प्राण के साथ ही वे काम के होते है। जब प्राण की शक्ति मिलती है, तब इच्छा अपना काम करने लग जाती है। हम प्राण-शक्ति को ऐसे नियत्रण-केन्द्रो मे सयोजित करे जिनसे हमारे ऊपरी भाग के केन्द्र जागृत हो और इच्छा पैदा करने वाला केन्द्र सो जाए, निष्क्रिय बन जाए। ऐसा होने पर इच्छा आएगी, विलीन हो जाएगी। फिर आएगी, फिर विलीन हो जाएगी। यह एक प्रक्रिया है इच्छा पर अनुशासन करने की। मनोनुशासनम् मे इस प्रक्रिया को विस्तार से समझाया गया है। हम उसे पढे। बहुत पढना भी जरूरी नही है और न पढना भी अच्छा नही है। किन्तु सबसे पहले अपने आपको जान सके, उसे जरूर पढे। जब अपने आपको भी नही जान पाते तो फिर पढने का अर्थ क्या होगा? प्रश्न हो सकता है—मनोनुशासनम् पढने की जरूरत क्या है? हम आचार्य तुलसी को जानते है। उन पर विश्वास है हमारा। कभी-कभी हमारा भ्रम भी हो जाता है। हम जो जानने की बात करते है, शायद नही जान पाते। किसी माध्यम से व्यक्ति को ज्यादा जान पाते है।

जब तक चेतना बहिर्मुखी रहेगी, हम किसी को भी नही जान पाएगे, नही पहचान पाएगे। न हम अपने आपको पहचान पाएगे और न दूसरो को पहचान पाएगे।

जब चेतना अन्तर्मुखी बनती है तब सबसे पहले अपने आपको जानने की बात प्राप्त होती है। जब हम अपने आपको जानते है, तब दूसरो को जानने मे सुविधा हो जाती है। हमारी समस्याए हल हो जाती है। स्वय को जाने बिना हमारे मूल्याकन की दृष्टिया यथार्थ नही होती। हम जितने भी क्राइटेरिया बनायेंगे, वे सारे अर्थशून्य होगे। जब हम स्वय को जान लेते है, तब दूसरो को पहचानने मे हमे कोई कठिनाई नही होगी। तब हमारे सारे दृष्टिकोण यथार्थ होगे, पहचान यथार्थ होगी।

अपने आपको जानने के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। अन्तर्मुखी बनने के लिए मन पर अनुशासन करना जरूरी है और मन पर अनुशासन तब फलित होता है जब इच्छा पर अनुशासन साध लिया जाता है। इसलिए अनुशासन का क्रम होगा—इच्छा पर अनुशासन, मन पर अनुशासन। इसका फलित होगा—अन्तर्मुखता।

इच्छा पर अनुशासन होने पर आहार पर अनुशासन स्वत प्राप्त हो जाता है। जैसे-जैसे इच्छा कम होती जाएगी, आहार पर नियन्त्रण होता जाएगा। आदमी ज्यादा क्यो खाता है? इच्छा ही उसका मुख्य कारण है। आवश्यकतावश कोई अधिक नही खाता। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि

वह आवश्यकतावश कितना खाता है और इच्छावश कितना खाता है ? आश्चर्य होगा यह जानकर कि मात्र आवश्यकतावश या उपयोगितावश खाने वाला, सौ मे एक व्यक्ति भी मिल पाना कठिन है। इच्छा के कारण खाने वाले शत-प्रतिशत है। शरीर की माग उतनी नही है, जितना आदमी खाता है।

बदलाई मौसम होती है। आकाश बादलो से आच्छन्न होता है। शीतल समीर बहता है। आदमी के मन मे गर्म हलवा खाने की इच्छा पैदा हो जाती है और वह भर-पेट हलवा खाता है। मौसम ने इच्छा पैदा कर दी। उपयोगिता का प्रश्न गौण हो गया। आवश्यकता का कोई प्रयोजन ही नही रहा। अभी-अभी भोजन से निवृत्त हुए। बाजार मे गए। कोई चीज सामने आई। खाने के लिए मन ललचाया। खा ली। और जब तक बाजार मे रहे, दो-चार बार और खा-पी लिया। क्या वह आवश्यकतावश खा रहा है या इच्छावश खा रहा है ? खाने की आवश्यकता बहुत कम होती है। यदि आदमी आवश्यकतावश ही खाए तो आने वाली अनेक समस्याए समाहित हो जाती है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाने से आदमी दीर्घायु होता है, रोगो मे बचता है और आनन्द से जीता है।

अनुशासन का एक क्रम है—

- इच्छा पर अनुशासन।
- आहार पर अनुशामन।
- शरीर पर अनुशासन।
- इन्द्रियो पर अनुशासन।
- श्वास पर अनुशासन।
- भाषा पर अनुशासन।
- मन पर अनुशासन।

अब इसी क्रम से 'मनोनुशासनम्' की व्याख्या प्रस्तुत है।

पहले हम मन पर अनुशासन करने की बात न सोचे। पहले बीज से चले। बीज है—इच्छा। फिर हम बेल पर, पत्तो और फूलो पर ध्यान दे। फिर अन्त मे फल पर ध्यान दे। इसी क्रम से साधना चले और हमारा बोध-पाठ भी चले। इस प्रकार चलने से मन पर अनुशासन करना कोई कठिन कार्य नही रहेगा।

आहार पर अनुशासन

एक भाई ने पूछा—'मैं जैसा हू वैसा ही रहूगा या वदल भी सकता हू ?' मैने कहा—'हमारी दुनिया का नियम है—परिवर्तन। हर आदमी वदल सकता है। जो वदलना चाहे वह वदल सकता है। जो बदलना नही चाहे, वह वदल नही सकता।'

'परिवर्तन शाश्वत नियम है। प्रत्येक पदार्थ मे क्षण-क्षण परिवर्तन होता है। पर आदमी जिस दिशा मे परिवर्तन लाना चाहे उस दिशा मे परिवर्तन ला सकता है। तुम भी वदल सकते हो।'

उसने पूछा—'कैसे वदल सकता हू। कुछ उपाय बताए। क्या आदते बदली जा सकती है ?'

मैने कहा—'वहुत अच्छी तरह से बदली जा सकती है। यदि आदते न बदले तो पुरुषार्थ का कोई अर्थ ही नही होता, अस्तित्व का कोई अर्थ ही नही होता। सव अर्थशून्य हो जाता है, यदि आदमी न वदले या न बदल सके। पुरुपार्थ की गाथा इसलिए गाई जाती है कि असभव लगने वाली बात भी उसके द्वारा सभव वन जाती है। आदत को वदलने के लिए आहार-शुद्धि करनी होती है।'

उसने पूछा—वडा आश्चर्य होता है, आदतो को बदलने मे आहार-शुद्धि से क्या सवध है ? खाता हू अपनी रुचि के लिए, खाता हू स्वाद के लिए, खाता हू जिह्वा की तृप्ति के लिए। फिर आदतो का इससे क्या सवध ? आदते कही, खाने का प्रश्न कही। यह विलकुल वेमेल-सा लगता है।

मैने कहा—'वेमेल है, यह हमारी स्थूलबुद्धि का निर्णय है। वास्तव में यही यथार्थ है। जिस व्यक्ति ने आहार-शुद्धि नही की, वह कभी अपनी आदत को नही वदल सकता। गहरा सबध है आहार का और आदतो का। आदते वनती है चैतन्य-केन्द्रो के स्रोतो के द्वारा। हमारे मस्तिष्क मे अनेक विंदु हैं, केन्द हैं। वे हमारी प्रवृत्तियो का संचालन करते है। आदमी नीद लेता है। नीद का नियामक केन्द्र है मस्तिष्क मे। आदमी हसता है, रोता है, सोचता है, चिंतन करता है। इन सवके अलग-अलग केन्द्र है। स्मृति का केन्द्र है, कल्पना का केन्द्र है, बुद्धि का केन्द्र है। जितनी मानसिक प्रवृत्तिया है, उन सवके केन्द्र है मस्तिष्क मे। जो केन्द्र सक्रिय हो जाता है, जाग जाता है। आदमी वैसा ही बन जाता है। सारे जीवन का सचालन इन मस्तिष्कीय केन्द्रो द्वारा होता है। सारे केन्द्र विद्युतीय आवेशो के द्वारा और रसायनो

के द्वारा जागते है। मस्तिष्क के अपने रसायन है। जैसे शरीर को भोजन की अपेक्षा होती है वैसे ही मस्तिष्क को भी भोजन की अपेक्षा होती है। शरीर को टॉनिक चाहिए तो मस्तिष्क को भी टॉनिक चाहिए। आज के वैज्ञानिक मस्तिष्क के टॉनिको की खोज मे लगे हुए है। प्राचीन काल मे अतीन्द्रिय-ज्ञानियो ने भी इस विषय मे अनेक खोजे की थी। आयुर्वेद के ग्रथ इन खोजो से भरे पडे हैं। इन ग्रन्थो मे मस्तिष्कीय टॉनिक और नाडी-सस्थान को वल-अबल देने वाले पदार्थों के विषय मे वहुत लम्वी चर्चा उपलब्ध होती है।

मस्तिष्क का सवध है विद्युत् के आवेशो से और रसायन से। रसायन बनते है आहार से। इस प्रकार आहार का सम्वन्ध जुड़ गया। जैसा आहार वैसा रसायन, जैसा रसायन वैसी मस्तिष्कीय क्रिया और जैसी मस्तिष्कीय क्रिया वैसा हमारा आचार-व्यवहार, विचार और आदते। यह एक पूरा चक्र है।

आहार को समझे विना आदतो को नही वदल सकते। आहार-शुद्धि किए विना स्वभाव का परिवर्तन नही हो सकता। आदमी दूसरे-दूसरे कितने ही परिवर्तन करे, स्वभाव नही वदलेगा जव तक कि वह अपने आहार के क्रम को नही बदल देता। दोनो का गहरा सम्वन्ध है। सबसे पहले हमारा ध्यान आहार पर केन्द्रित होना चाहिए। आहार का अर्थ वहुत व्यापक है। केवल मुह से खाना ही आहार नही है। हम जो कुछ बाहर से ग्रहण करते है वह सारा आहार है। नथुनो से जो श्वास लेते है, वह भी आहार है। बोलने के लिए वाह्य वातावरण से भाषा के योग्य परमाणु लेते है, वह भी आहार है। चिन्तन के लिए मानसिक परमाणुओ को सगृहीत करते हैं, वह भी आहार है। प्राण का आकर्षण, भाषा का आकर्पण, चिन्तन के परमाणुओ का आकर्षण आदि-आदि सभी आहार हैं। इस व्यापक अर्थ मे हम आहार को समझे। इसको समझ लेने पर सारी समस्याए सुलझ जाएंगी।

आहार मस्तिष्क को अत्यधिक प्रभावित करता है। आदमी ने शराव पी। मस्तिष्क का नियत्रण ढीला हो गया। वह पागल वन गया। पागल किसने वनाया? भोजन ने उसे पागल बना दिया। शराव भी एक प्रकार का भोजन है, आहार है। भाग पी। आकाश-पाताल एक हो गए। सारा ससार घूमने लगा। यह भी आहार के कारण ही हुआ। भांग भी एक प्रकार का आहार है। मादक द्रव्यो के परिणामो से हम परिचित हैं। किसी व्यक्ति की स्मृति बढ जाती है। वह ब्राह्मी का प्रयोग करता है, शंखपुष्पी का प्रयोग करता है, स्मृति वढ़ जाती है। आज के वैज्ञानिक स्मृति को वढ़ाने वाले अनेक प्रकार के रसायनों की खोज कर रहे हैं और वे साथ ही साथ स्मृति घटाने वाले रसायनो की खोज भी कर रहे है। उनका मानना है कि वुद्धि और स्मृति

सबके लिए जरूरी नही होती। जो चोर है, लुटेरे है, हत्यारे है, खूखार है, उनकी स्मृति को कम कर दिया जाए, जिससे अपराध कम हो सके। इस स्थिति को घटित करने के लिए वे स्मृति घटाने वाले रसायनो की खोज कर रहे है। इसी प्रकार स्मृति को वृद्धिगत करने वाले रसायनो की खोज भी चल रही है। आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति के अनुसार स्मृति बढाने वाले द्रव्य ये है—गोरखमुडी, सतावरी, ब्राह्मी, शखपुष्पी आदि-आदि। आज के वैज्ञानिक इस खोज मे पूरी तन्मयता से लगे हुए है कि कौन-सा रसायन क्या कार्य करता है? उसके आधार पर वे विभिन्न रसायनो का निर्माण कर रहे हैं। आयुर्वेद के आचार्यो ने पदार्थो की खोज की और उन पदार्थों के द्वारा रसायनो को पैदा करने का उपाय बताया। प्रक्रिया मे कोई अन्तर नही है, मूल बात एक ही है कि उन खोजो के द्वारा, उन पदार्थों के द्वारा मस्तिष्क मे विशेष प्रकार के रसायनो का निर्माण करना और मस्तिष्क की शक्ति को बढाना या घटाना। दोनो कार्य हो सकते है, मस्तिष्कीय शक्ति का विकास भी हो सकता है और ह्रास भी हो सकता है।

शारीरिक दृष्टि से भोजन के प्रभावो की जितनी खोजे हुई है, उतनी खोजे मनुष्य के स्वभाव को रूपान्तरित करने की दिशा मे कम हुई है। आयुर्वेद मे भी कम हुई है और एलोपैथिक मे भी कम हुई है।

आयुर्वेद के आचार्यो ने भोजन के अनेक प्रकार बतलाए हैं—जीवनीय, बृहणीय, दीपनीय, बल्य आदि-आदि।

एक प्रकार का भोजन वह होता है जो जीवनशक्ति को बढाता है, उसको बनाए रखता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बृहणीय होता है, शरीर को पुष्ट करने वाला होता है। दीपनीय भोजन अग्नि का दीपन करता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बल की वृद्धि करता है, और भी अनेक प्रकार है।

द्रव्य तीन प्रकार के होते है—शमन करने वाले, कुपित करने वाले, सतुलन रखने वाले। कुछ द्रव्य ऐसे होते है जो वात, पित्त और कफ का शमन करते है। कुछ द्रव्य ऐसे होते है जो वात, पित्त और कफ को कुपित करते है। कुछ द्रव्य ऐसे होते है जो वात, पित्त और कफ को सम अवस्था मे रखते है, सतुलित रखते है, इनके सतुलन को बिगडने नही देते।

पित्त को कुपित करने वाले द्रव्य क्रोध को भी कुपित करते हैं, पित्त और क्रोध का गहरा सबध है। जिस व्यक्ति का पित्त कुपित होता है, उसका क्रोध भी कुपित होता है। जिस व्यक्ति का कफ कुपित होता है, उसका लोभ भी कुपित होता है। कफ को कुपित करने वाले द्रव्य लोभ को भी कुपित करते है। कुछ व्यक्ति लालची होते हैं। हजार बार उपदेश सुन लेने पर भी उनकी लालची मनोवृत्ति मे कोई अन्तर नही आता। वे बेचारे क्या करे?

उनमें कफ का प्रकोप बना रहता है तब वे उस लालची मनोवृत्ति से कैसे छुटकारा पा सकते है ? मनोवृत्ति नही बदलती । कफ का प्रकोप शात होते ही लालच की वृत्ति मे अन्तर आ जाएगा । कफ और लालच का गहरा सबध है । वायु को कुपित करने वाले द्रव्य व्यक्ति मे निराशा को जन्म देते हैं। जिस व्यक्ति मे वायु कुपित रहता है वह व्यक्ति निराश, डिप्रेशन से ग्रस्त, मानसिक अवसाद से युक्त होता है । वायु का और इन सब दोपो का गहरा सम्बन्ध है ।

आदमी का जीवन भोजन से बहुत बधा हुआ है । आतिथ्य सत्कार भी इससे प्रारम्भ होता है । दो आदमी या दो औरते जहा भी मिलती हैं, भोजन की चर्चा चल पडती है ।

एक बार एक व्यक्ति ने अपने मित्र को भोजन के लिए आमत्रित करते हुए कहा—शादी है, भोजन करने जरूर आना । ठीक समय पर मित्र पहुंच गया । उसने देखा निमत्रण देने वाला मित्र गधे को रगड-रगड कर नहला रहा है । उससे पूछा—क्या कर रहे हो ? उत्तर मिला—गधे की आज शादी है । इसे नहला रहा हू । अरे, गधे की शादी है ! भोजन का निमंत्रण दिया था । क्या खिलाओगे ? 'मित्र ! उतावाले मत हो । जो दुल्हा खायेगा वही तुम्हे खिलाऊगा ।'

भोजन की चर्चा जितनी व्यापक है उतनी व्यापक और कोई चर्चा नही है ।

भक्तकथा अर्थात् भोजन की कथा । यह कथा अकारण नही होती । आदमी भोजन से इतना बंधा हुआ है, जितना वह और किसी से बंधा हुआ नही है । भोजन से शरीर बनता है, रक्त बनता है, मास बनता है और सारी धातुए बनती है । सात धातुओ से परे जो ओज है वह भी भोजन से बनता है । ओज को आज की भाषा मे विद्युत् कहा जाता है । सारे रसायन भोजन से निष्पन्न होते हैं ।

जीवन का पूरा चक्र भोजन से संचालित होता है । हमारी सारी वृत्तिया भोजन से सचालित होती है । भोजन के आधार पर पूरे व्यक्तित्व का अंकन किया जा सकता है । जिस व्यक्ति ने भोजन का यथार्थ मूल्यांकन नही किया वह अपने व्यक्तित्व को भी कैसे समझ सकता है ? वह अपनी आदतो का विश्लेषण या रूपान्तरण कैसे कर सकता है ?

जिज्ञासु ने पूछा—'इतनी लम्बी चर्चा के वाद यह स्पष्ट समझ मे आ गया कि आदतो को बदलने के लिए आहार की शुद्धि बहुत आवश्यक है। पर आप यह बताएं कि आहार-शुद्धि का तात्पर्य क्या है ?'

मैने कहा—'मेरे शब्दों मे नही, मनोनुशासनम् ग्रन्थ के संदर्भ मे बता रहा हूं कि जो भोजन हित, मित और सात्विक होता है, वह आहार-शुद्धि है ।

जो आहार हितकारी होता है, परिमित होता है और सात्विक होता है, वही आहार शुद्ध होता है। यही आहार-शुद्धि है।

पूछने वाला इतने से सतुष्ट नही हुआ। उसके मन मे अनेक प्रश्न और उभरे। प्रश्नकर्ता स्वतत्र होता है, उत्तरदाता परतत्र। उसने आगे पूछा – हित आहार की परिभाषा क्या है ?

मैंने कहा—हित क्या है—इसकी व्याख्या बहुत लम्बी है। किस दृष्टि से कहा जाए कि हित क्या है ? हमारे शरीर के महत्त्वपूर्ण अग है—मस्तिष्क, हृदय, लीवर, फेफडे, तिल्ली और गुर्दे। इद्रिया—आख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये सभी मुख्य है। पूरा नाडी-सस्थान का भी अपना महत्त्व है। इन सबकी दृष्टि से एक साथ हितकर की व्याख्या नही की जा सकती। मस्तिष्क के लिए कुछेक पदार्थ हितकर होते है। नाडी-सस्थान के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थ हितकर होते है। ज्ञानवाही नाडियो के लिए जो पदार्थ हितकर है वे क्रियावाही नाड़ियो के लिए हितकर नही भी होते। हृदय के लिए कोई एक पदार्थ हितकर होता है तो आख के लिए कोई दूसरा ही पदार्थ हितकर होता है। बहुत विशाल ज्ञान करना होता है कि किस अवयव को कौन-सा पदार्थ हितकर है।

कुछेक व्यक्ति एकागी दृष्टि से 'हित' की बात को पकड लेते है। कई वैद्य कहते है – पिप्पल बहुत हितकर होता है। मदाग्नि हो, पाचन की कमी हो तो पिप्पल का सेवन हितकर होता है। बात ठीक है। पर इसकी भी एक सीमा है। मदाग्नि के समय पिप्पल का सेवन हितकर हो सकता है। परन्तु जब वह बीमारी मिट गई और व्यक्ति प्रतिदिन उसका सेवन करता ही रहे तो वह पिप्पल भी दोष-सग्रहकारक हो जाएगी। हित की बात देश, काल और मात्रा के साथ जुडी हुई होती है। देश, काल और मात्रा की उपेक्षा कर हित की बात नही सोची जा सकती।

किसी स्थिति मे नमक या क्षार खाना आवश्यक होता है। पर आदमी यदि नमक का सेवन करता ही रहे तो उसे अनेक व्याधियो का सामना करना पडता है। आयुर्वेद के अनुसार हृदयशूल का रोग नमक के अधिक सेवन से होता है। अधिक नमक खाने वाला खल्वाट हो जाता है, गजा हो जाता है। नमक गुर्दे को कमजोर कर देता है। हृदय के विभिन्न रोगो मे नमक कारणभूत होता है। आयुर्वेद का सिद्धात है —**पिप्पलक्षारलवणानि, नाधिकानि भोज्यानि**'—ये तीनो अधिक मात्रा मे नही खाने चाहिए। तीनो हितकर हैं, यदि उनका सेवन मात्रा सहित किया जाता है। तीनो अहितकर है, यदि उनका सेवन मात्रा का अतिक्रमण कर किया जाता है। प्राचीन साहित्य मे उल्लेख मिलता है कि सौराष्ट्र के लोग नमक का बहुत सेवन करते थे। वे चीनी के स्थान पर नमक का प्रयोग करते थे। दूध मे भी नमक डालकर पीते

थे। इसलिए वे पुस्त्व को खो डालते और हृदयशूल के शिकार भी हो जाते।
कहीं-कही नमक का ही शाक वनाया जाता है। जैसे मटर और घीये का
शाक होता है वैसे ही नमक का शाक होता है। उसमे भी नमक-मिर्च डाले
जाते हैं। नमक को भी नमकीन वनाने का प्रयत्न होता है। इस शाक को वे
वडी रुचि से खाते है। यह शाक किसी भी दृष्टि से हितकर नही होता।
यह स्वादिष्ट अवश्य होता है, पर हितकर नही। मासाहारी लोग नमक वहुत
खाते है। मास को पचाने के लिए नमक की अधिक जरूरत होती है। इसलिए
मासाहार का अर्थ होता है अनेक वीमारियो को नियत्रण देना।

हितकर या अहितकर की व्याख्या एकागी दष्टि से नही की जाती
है। अनेक दृष्टियो से उसकी व्याख्या करनी होती है। देश की दृष्टि से
हितकर, काल की दृष्टि से हितकर, सार की दृष्टि से हितकर, अवस्था की
दृष्टि से हितकर। बच्चे के लिए प्रोटीन की अत्यधिक आवश्यकता होती है।
दूध की भी आवश्यकता होती है। पर कोई व्यक्ति वचपन पार कर युवावस्था
मे चला जाता है और प्रोटीन का अत्यधिक सेवन करता है तो वह अनेक
रोगो को निमन्त्रित करता है। अवस्था, काल तथा अन्यान्य स्थितियो को
ध्यान मे रखकर जव मात्रा सहित किसी पदार्थ का उपयोग करते है तो भोजन
हितकर होता है। दूध अच्छा भोजन है। परन्तु उसको कव, कितनी मात्रा मे
लेने का सापेक्ष दृष्टिकोण नही होता है तो वह अच्छा भी बुरा बन जाता है।
अमृत भी विष वन जाता है।

दूसरा प्रश्न है, मित भोजन क्या है ? हित के साथ मित जुडा हुआ
है। यह मात्रा-वोध का सूचक है। कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा मे लेनी
चाहिए, इसका ज्ञान आवश्यक है। मुनि के लिए भोजन का एक दोष है—
प्रमाणातिक्रान्त। मुनि प्रमाण से अतिरिक्त भोजन करता है तो वह इससे
स्पृष्ट होता है। आयुर्वेद के अनुसार 'अधिक खाना' भोजन का एक दोष है।
अधिक खाने वाला अनायास ही अनेक रोगो को निमन्त्रित कर लेता है।

भोजन के दो प्रकार है—हल्का या लघु भोजन और गरिष्ठ भोजन।
लघु भोजन वायु प्रधान होता है। उसमे अग्नि तत्त्व अधिक होता है, इसलिए
वह सुपाच्य होता है। गरिष्ठ भोजन या भारी भोजन जल-प्रधान होता है।
वह न वायुप्रधान होता है और न अग्नितत्त्व प्रधान। इसलिए वह दुष्पाच्य
होता है। अधिक खाने पर वह विकृतिया पैदा करता है। राजस्थान प्रात के
कुछेक लोग वहुत मिठाइया खाते है। भोज और मिठाई पर्यायवाची जैसे वन
गए है। ऐसा एक भी आतिथ्य नही जहा मिठाई का भोजन न हो। विना
मिठाई के निमन्त्रण ही कैसा ? वे अत्यधिक मिठाई खाते, दूध-दही-मक्खन
खाते। सारी चीजे गरिष्ठ ही गरिष्ठ। परिणाम यह हुआ कि वे लोग जव
तीस-चालीस वर्ष के होते तो वूढे जैसे लगने लग जाते। वुढापे का अनुभव

होने लग जाता। शक्तिहीनता के वे शिकार हो जाते। चालीस वर्ष बाद किसी की मृत्यु होती तो माना जाता कि कोई बात नही, अवस्था-प्राप्त था। आज यह मान्यता बदल चुकी है। आज चालीस से साठ वर्ष तक का आदमी युवा माना जाता है। गरिष्ठ भोजन आदमी को अकाल मे बूढा बना देता है। गरिष्ठ भोजन देखने मे सुन्दर, खाने मे स्वादिष्ट होता है, पर उसमे अग्नितत्त्व पर्याप्त मात्रा मे नही होते, अत वह पूरा पचता नही। अर्धपक्व भोजन विकृति पैदा करता है, और असमय मे ही आदमी काल-कवलित हो जाता है।

भोजन-विज्ञान मे मात्रा का विवेक बहुत जरूरी है। हलके या लघु भोजन की मात्रा भी अधिक नही होनी चाहिए। गरिष्ठ भोजन की मात्रा तो और भी कम होनी चाहिए। पर सामाजिक व्यवहार भी अजीब होता है। दस-बीस मित्र मिलते हैं, एक साथ भोजन करने बैठते है तो फिर मात्रा का विवेक रहता ही नही। कौर देने वाले का दौर चलता है और उदर-कूप जो भर चुका है, उसको और ठूस-ठूस कर भरा जाता है। जब आदमी गले तक भर जाता है तब खाने से हाथ खीचता है। यह इसलिए चलता है कि आदमी को आहार की मात्रा का पूरा ज्ञान नही है। हम जाने-अनजाने इस प्रक्रिया से अपने प्रिय व्यक्ति के प्रति भी इतनी शत्रुता का व्यवहार कर देते है कि जितना शत्रु, शत्रु के साथ नही करता। शत्रु इतना अनिष्ट कर ही नही पाता, क्योकि उसकी प्रत्येक क्रिया को सन्देह की दृष्टि मे देखा जाता है। परन्तु मित्र या प्रिय व्यक्ति की क्रिया मे यह सन्देह नही होता। सब कुछ अच्छा लगता है। वह एक ओर अनेक बीमारियो को निमन्त्रण देता है और दूसरी ओर प्रियता की अनुभूति करता है। वह सोचता है, आज जैसा स्वागत पीछे कभी नही हुआ। बडा मजा आया। कितना स्वादिष्ट था भोजन! कितनी बढिया थी सारी सामग्री! वह भूल जाता है कि भोजन के माध्यम से उसने अनेक बीमारियो को निमन्त्रण दिया है। मात्रा का विवेक बहुत आवश्यक होता है।

तीसरी बात है कि भोजन सात्विक होना चाहिए। यह तथ्य गहरे अनुसंधान के बाद प्रकट हुआ है। जो भोजन चित्त-वृत्तियो मे विकृति पैदा न करे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन से शुक्ल लेश्या के विचार जागे, पद्म लेश्या के प्रकपन उठे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन के खा लेने पर मन दूषित हो, बुरे विचार आए, उत्तेजना और वासना उभरे, क्रोध और लालच की भावना उग्र हो, हिंसा के भाव जागे, वह भोजन तामसिक या राजसिक होता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को उभारने वाला भोजन सात्त्विक नही होता। वह होता है तामसिक। वह शरीर के नीचे के केन्द्रो को सक्रिय करता है। सात्त्विक भोजन शरीर के नाभि के ऊपर के केन्द्रो को जगाता है, सक्रिय करता है। इस

भोजन से आनन्दकेन्द्र, विशुद्धिकेन्द्र, ज्ञानकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र सक्रिय होते है। भोजन के साथ शरीर का, चैतन्य-केन्द्रो का, वृत्तियो का कितना गहरा सम्वन्ध है, इसे जानना आवश्यक है।

आदमी के पास अपार सम्पदा है, भडार भरा हुआ है, फिर भी वह भिखारी वना हुआ है। वह भिखारी, जो अच्छी आदतो को दूसरो से मागता है, बुद्धि और स्मृति को दूसरो से मांगता है। खोजता फिरता है कि बुद्धि का विकास कैसे हो ? स्मृति कैसे वढ़े ? अच्छा स्वभाव कैसे वने ? अच्छी आदत कैसे पनपे ? वह खोजता फिर रहा है। वह अपनी सम्पदा की ओर ध्यान ही नही देता । वह पूरा भिखारी है। जो दूसरो से मागता है वह भिखारी होता है। चौराहे पर बैठकर रोटी-पैसे मागने वाला ही भिखारी नही होता। मागने वाला हर आदमी भिखारी होता है।

एक भिखारी बैठा था। उसी रास्ते से राजा की सवारी निकल रही थी। पुलिस ने आकर कहा—यहां से हटो। राजा की सवारी आ रही है। भिखारी बोला—क्यो हटू ? रास्ता सवका है। मै नही हटता। राजा कौन होता है हटाने वाला ? पुलिस ने कहा—'राजा वह होता है जो चाहे सो कर सके। वह इतना समर्थ होता है कि चाहे जिसको देश से निकाल सकता है।' भिखारी वोला—अच्छा, इतना समर्थ होता है राजा ! तो एक काम करो कि इस राज्य मे जितने मच्छर है, जितनी मक्खिया है, उन सबको निकाल दो। यदि वह ऐसा कर देगा तो मैं समझूगा कि वह राजा है। पुलिस वाला देखता ही रह गया कि कैसा विचित्र है यह भिखारी ! पुलिस वाला बोला—यह तो सभव नही है। हमारा राजा ऐसा है जिसके महलो पर रात-दिन पहरा लगता है। भिखारी ने हसते हुए कहा—वह कैसा राजा ! वह तो कैदी है। जेल मे रात-दिन पहरा होता है। राजा से कहो, वह पहरा हटा दे।

इतने मे राजा की सवारी पास आ गई। भिखारी राजा के साथ चल पडा। रास्ते मे एक धर्म-स्थान था। राजा वहा उतरा। अन्दर गया। भगवान् की मूर्ति के समक्ष प्रणाम किया और हाथ जोडकर बोला, 'प्रभो ! कृपा करें। मेरी सम्पत्ति वढे, परिवार वढे, वैभव वढे, सुख-सुविधा वढे।' वह याचना करता ही रहा। भिखारी कोने मे खडा-खडा सुन रहा था। राजा उठा। वाहर आया। भिखारी को देखकर वोला—मागने आये हो ? मागो। मिलेगा। भिखारी वोला—आया था मागने। यही सोचा था कि राजा है, अमीर होगा। वैभवशाली होगा। मुझे देगा। मेरा दारिद्र्य मिट जायेगा। पर मैंने देखा ही नही, स्वय सुना है कि आप तो बहुत बड़े भिखारी है। मै छोटा भिखारी हू। आप वडे भिखारी है।

आज का आदमी इसी स्थिति से गुजर रहा है। उसके पास शक्तियो का अखूट खजाना है। पर दूसरो से निरन्तर याचना करता चला जा रहा

है। वह अपनी शक्तियो को पहचान सकता है, यदि उसमे साधना का भाव जागे। साधना का अर्थ है—अपनी शक्तियो को पहचानने का प्रयत्न। अपने भीतर अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनद है, अनत शक्ति है। जब वह उनको पहचानने के लिए पहला कदम उठाता है, तब वह अपने आपको पहचानने मे समर्थ होता है।

ध्यान की साधना अपने आपको पहचानने का महान् अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान की सफलता तभी है जब आदमी अपने आपको बदल दे, रूपातरित कर दे। रूपान्तरण के लिए आहार-शुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। हित आहार, मित आहार और सात्विक आहार के अभ्यास से रूपान्तरण घटित होने लगता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास बढता है, शरीर की विद्युत् बदलती है, रसायन बदलते है, चैतन्य-केन्द्रो की सक्रियता बढती है। जो केन्द्र सोने योग्य होते हैं, वे सो जाते हैं और जो जागने योग्य हैं, वे जाग जाते है। नीचे के केन्द्र सो जाते है और ऊपर के केन्द्र जाग जाते है। जिस दिन यह जागृति होती है, उस दिन नई दुनिया का अनुभव होता है, नये जीवन की अनुभूति होती है और तब आदमी इस स्वर मे कह सकता है—जो सम्पदा आज तक नही मिली, वह आज हस्तगत हो गई। जो जागृति आज तक नही आई, वह आज घटित हो गई।

जिज्ञासा समाधान

प्रश्न :—आहार के द्वारा रसायन बदलते है और रसायनो से प्रवृत्तिया बदलती हैं। आज कृत्रिम रसायनो के द्वारा प्रवृत्तियो के बदलने के प्रयोग चल रहे हैं। फिर उनमे और ध्यान मे अन्तर क्या रहा ?

उत्तर—रसायनो का निर्माण केवल आहार के द्वारा ही नही होता, भावना के द्वारा भी महत्त्वपूर्ण ढग से होता है। हम भावनाओ के द्वारा भी महत्त्वपूर्ण रसायनो को निर्मित कर सकते है, रसायनो को बदल सकते है। रसायनो को बदलने की सबसे उचित प्रक्रिया है ध्यान। आहार ध्यान मे सहायक बनता है। उचित आहार के द्वारा उचित रसायनो का निर्माण होता है। उससे ध्यान मे सहयोग मिलता है, प्रवृत्तियो की निर्मिति मे और उनके रूपातरण मे सहयोग मिलता है। कृत्रिम रसायन निरापद नही होते। उनके साथ खतरे भी जुडे हुए हैं। इस तथ्य को स्वय वैज्ञानिक भी स्वीकार करते है। गोबर की खाद स्वाभाविक होती है। उससे बहुत अच्छा अनाज पैदा होता है। कृत्रिम खादो से अनाज के साथ-साथ विष भी पैदा होता है। कृत्रिम खाद की तरह ही है कृत्रिम रसायन। वे खतरे से खाली नही हैं। कृत्रिम रसायनों क अधिक प्रयोग चूहो पर, बन्दरो पर हो रहा है। अभी मनुष्यो पर विशेष प्रयोग नही हो रहे है। खतरे बहुत लगते है।

स्वाभाविक भोजन और ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा यदि हम रसायनो को बदलते हैं तो यह अत्यन्त निरापद और लाभप्रद होता है।

प्रश्न :—अतीन्द्रिय ज्ञान (अवधि ज्ञान) के आपने पाच प्रकार वतलाए—आगे का, पीछे का, दाएं का, बाए का और नीचे का। बात समझ मे नही आई। स्पष्ट करे।

उत्तर :—जब अवधिज्ञान की उपलब्धि होगी तब पूरी बात समझ मे आएगी। किंतु कुछेक तथ्य तो अवश्य ही ज्ञात हुए है। हमारे शरीर मे जो नाड़ी-सस्थान है, उसमे एक है सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम—केन्द्रीय नाडी-सस्थान। शरीर के दाएं-बाए दो नाडी-सस्थान है—सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक। इनमे से जो शाखाए निकली है वे आगे भी है। चैतन्य-केन्द्रो का उद्‌गम पीछे से प्रारम्भ होता है और आगे तक आ जाता है। इसलिए प्रेक्षा-ध्यान के सदर्भ मे हम शरीर के आगे के भाग मे भी ध्यान करते है और पीछे के भाग मे भी ध्यान करते है। ध्यान जव परिपक्व होता है तव दाए-बाए भी ध्यान करना होता है। ऊपर (सिर पर) भी ध्यान करते है। इस प्रकार साधना का उद्देश्य होता है—शरीर को स्फटिक-सा पारदर्शी बना देना।

अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि के लिए शरीर को पारदर्शी बनाना आवश्यक होता है। जब तक शरीर पारदर्शी नही हो जाता, जव तक शरीर के मुख्य केन्द्रो को चुम्बकीय क्षेत्र नही बना दिया जाता तव तक ज्ञान की रश्मिया छनकर बाहर नही आ सकती। दिया जल रहा है। उस पर सघन ढक्कन लगा दिया तो प्रकाश बाहर नही आयेगा, भीतर ही रह जायेगा। यदि उस दिए पर जालीदार ढक्कन लगा दिया जाता है तो प्रकाश छन-छन कर बाहर आएगा और यदि ढक्कन पारदर्शी है तो प्रकाश चारों ओर से फैलेगा।

ज्ञान के प्रगटीकरण के लिए चैतन्य-केन्द्रो को निर्मल बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ लोग पूछते है, जैन साधना पद्धति मे चैतन्य-केन्द्रो की चर्चा कहा है? उन्हे ज्ञान होना चाहिए कि अवधिज्ञान की सारी चर्चा चैतन्य-केन्द्रो की चर्चा है। पाच प्रकार से अभिव्यक्त होने वाले अवधिज्ञान की चर्चा चैतन्य केन्द्रो की चर्चा है। निशीथ और नन्दी के चूर्णिकार ने अतीन्द्रिय ज्ञान को इन्ही उदाहरणो से समझाया है कि दिये पर रखे हुए जालीदार ढक्कन से जैसे प्रकाश-रश्मिया बाहर फैलती है वैसे ही शरीर का जो भाग, जो केन्द्र निर्मल हो जाता है उसमे से ज्ञान-ज्योति की रश्मिया फैलती हैं। इसलिए अवधिज्ञान के दो मुख्य विकल्प किए गए—

- देशावधि—शरीर के एक भाग से होने वाला ज्ञान।
- सर्वावधि—समूचे शरीर से प्रकट होने वाला ज्ञान। शरीर के

किसी भी भाग से वह ज्ञान प्रगट हो सकता है। एक अगुली से अवधिज्ञान हो सकता है। अगुली इतनी पारदर्शी बन जाती है कि उससे ज्ञान की रश्मिया निकलने लगती हैं। अगुली को काम मे मत लो, अवधिज्ञान नही होगा। साधना के क्षेत्र मे यह वहुत महत्त्वपूर्ण चर्चा है।

प्रश्न :— चित्त और मन मे क्या अन्तर है ? इच्छा कैसे पैदा होती है ?

उत्तर :— चित्त है स्वामी। मन है उसका नौकर। चित्त है चेतना का तन्त्र और मन है मस्तिष्क के द्वारा क्रिया करने वाला तन्त्र। यह चेतना का तन्त्र नही है, किन्तु शरीर का तन्त्र है जिसमे चेतना आती है। चित्त है शरीर के साथ काम करने वाली चेतना।

इच्छा की उत्पत्ति का स्रोत वहुत गहरे में है। इच्छा इस शरीर मे पैदा नही होती। इच्छा पैदा होती है अवचेतन मे। अध्यात्म की भाषा मे कहा जा सकता है कि इच्छा पैदा होती है अध्यवसाय मे, लेश्या में। इच्छा का सबध केवल वर्तमान शरीर से नही, वर्तमान जीवन से नही, किन्तु अतीत के अनेक जन्मो तथा अतीत के साथ काम करने वाले सूक्ष्म शरीरो के साथ जुडा होता है। इसलिए इच्छा वाहर के निमित्तो से भी हो सकती है और आतरिक निमित्तो से भी हो सकती है। भीतर मे इच्छा का अजस्र स्रोत बह रहा है, निमित्त के मिलने पर इच्छा वाहर प्रकट हो जाती है। बहुत गहरे मे उतरकर हमे इच्छा का अध्ययन करना होगा।

इन्द्रिय का अनुशासन

एक युवक मेरे सामने खड़ा था। मैंने पूछा—तुम कौन हो ? उत्तर मिला—मैं अध्यात्म का जिज्ञासु हूं। मैने कहा—फिर ललाट पर शिकन कैसे ? उसने कहा उलझनें उभर रही हैं। मैंने पूछा—अध्यात्म उलझनो को मिटाने का उपाय है। अध्यात्म का जिज्ञासु उलझनो मे उलझा रहे, उसके चेहरे पर विषाद की रेखाएं खचित रहे, इसका क्या कारण है ? कुछ समझ मे नही आता। उसने कहा—वात सही है। मैने इस क्षेत्र मे प्रवेश किया था उलझनो को मिटाने के लिए, किन्तु मै तो और अधिक उलझ गया।

मैंने पूछा—यह कैसे हुआ ? उसने कहा—मै विज्ञान का विद्यार्थी हूं। मै अध्यात्म के क्षेत्र मे इस आशा से उतरा था कि अध्यात्म से जीवन सरस बनेगा, रसमय बनेगा। किन्तु जैसे-जैसे अध्यात्म के ग्रन्थ पढे, मुझे नीरस तथ्य ही मिले। उनमे रसहीन जीवन की प्रक्रियाए ही मिली। मैंने उत्तराध्ययन पढ़ा। उसमे मिला 'रसापगाम न निसेवियव्वा'—रसो का अधिक सेवन मत करो। महाभारत पढा। उसका स्वर है—योगी का वल है नीरस भोजन, अरस भोजन। महात्मा गांधी को पढ़ा। वे वार-वार दोहराते हैं अस्वाद, अस्वाद। मैने सोचा—मनोनुशासनम् नया ग्रन्थ है, यह आज के युग का ग्रन्थ है। इसमे सरस जीवन का आशावादी स्वर मिलेगा, रसमय जीवन जीने के उपाय मिलेगे। उसे मनोयोगपूर्वक पढा। उसमे भी यही स्वर मिला कि इन्द्रियो के रस को कम करो, इन्द्रिय-शुद्धि करो। आहार की शुद्धि के पश्चात् इन्द्रिय शुद्धि करो। इन्द्रिय-जय की चर्चा करते-करते अध्यात्म के सारे ग्रंथ रसहीन बन गए है। इस रसहीनता को देखकर अध्यात्म से ऊव गया हू। मैं उलझन मिटाने के लिए आया था, पर नई उलझनो मे फस गया। मुझे वह जीवन चाहिए जिसमे सरसता टपके। वह जीवन चाहिए जिसमे रस हो, आनन्द हो, स्वाद हो। आज के युवक के लिए अस्वाद की बात अर्थहीन है। इस वैज्ञानिक प्रगति के युग मे त्यागने या छोड़ने की वात मान्य नही हो सकती। मत देखो। मत सुनो। मत खाओ। मत पीओ। मत वोलो। मत छूओ। सुगन्ध भी मत लो। मत करो, मत करो—इस निषेध ने जीवन का सारा रस चूस लिया, उसे रसहीन वना डाला। सारा जीवन ईख के छिलके की भाति रसहीन हो गया। अध्यात्म के आचार्यो ने जो कहा, जो वताया, उससे मुझे वडी निराशा हुई है। फिर आप पूछते हैं—चेहरे पर

शिकन क्यो ? उलझन की रेखा क्यो ? शिकन क्यो नही होगी ? उलझनें क्यो नही उभरेगी ? अध्यात्म मे प्रवेश कर मुझे कष्ट हुआ। मेरी सारी आशाए धूमिल हो गई। आशाओ पर तुषारापात-सा हो गया। अब क्या कहू ? मेरा मार्गदर्शन करे।

मैने कहा—भले आदमी ! इतने क्यो उलझते हो ? अध्यात्म को छोड दो, तिलाजली दे दो। जैसे साप केचुली को छोड देता है, वैसे ही तुम अध्यात्म को सदा-सदा के लिए छोड दो।

उसने कहा—यह सम्भव हो सकता है ? मै इसे छोड नही सकता। मैं पदार्थो के सेवन से ऊब कर इस क्षेत्र मे आया। यदि इसको भी छोड दू तो फिर 'णो हव्वाए णो पाराए'—न इधर का रहा और न उधर का रहा। पदार्थो से भी मुझे अरुचि है। पदार्थो ने मुझे प्रताडित कर रखा है। उनसे मानसिक अशाति ही मिली है। उस अशाति से तर्जित होकर शाति की खोज के लिए इस क्षेत्र मे पदार्पण किया। यहा भी शाति नही मिली। फिर पदार्थ जगत् मे जाकर क्या करू ? वहा भी अशाति ही अशाति है। अब अध्यात्म को कैसे छोडू ? छोडकर कहा जाऊ ?

मैने कहा—तुम अभी समझे नही। तुमने अध्यात्म को भी पूरा नही समझा है। तुमने न उत्तराध्ययन को समझा है, न महाभारत को समझा है और न मनोनुशासनम् को समझा है। समझना बहुत कठिन होता है। जब तक अनुभव नही होता, परम्परा नही होती, बात समझ मे नही आती। शिविर मे ध्यान-साधना करने वाला एक साधक बता रहा था कि वह दो वर्षो से ध्यान का अभ्यास कर रहा है। पर उससे कुछ भी हस्तगत नही हुआ। शिविर मे दस दिनो के क्रम से गुजरा और अनुभव होने लगा कि कुछ हो रहा है। इसका निष्कर्ष है कि बात अपने आप समझ मे नही आती। जब तक चाबी हाथ नही लगती, ताला नही खुलता। मैने आयुर्वेद का एक ग्रथ पढा। उसमे पानी को ठण्डा करने की कुछ विधिया बतलाई गई है। उनमे एक विधि है—वस्त्रोद्धरण। वस्त्र के द्वारा पानी को ठडा किया जा सकता है। पानी को वस्त्र से छानने से पानी ठण्डा होता है। मैंने पढा तो बहुत आश्चर्य हुआ कि अनुवादक ने कितना गलत अनुवाद किया है। अनुवाद गलत इसलिए हुआ कि अनुवादक को इस विधि का अनुभव नही था। हम मुनि इस विधि से बहुत परिचित है। जब ग्रीष्म ऋतु मे यत्र-तत्र हमे गरम पानी प्राप्त होता है तब इस विधि से हम उसे ठडा करते हैं। ठडा भी इतना हो जाता है कि मानो बर्फ का पानी हो। दस-बीस बार छानने मात्र से गरम-पानी ठडा नही होता। वस्त्रोद्धरण की विधि यह है। गरम पानी का पात्र पडा है। पानी मे कपडा डाला। उसको द्विपट या चतु पट वाला किया। उसके दोनो सिरे पकडकर ऊपर उठाया, फिर पानी में

डाला, फिर ऊपर उठाया। इस प्रकार करते-करते पानी ठण्डा हो जाता है। पानी कपडे के साथ ऊपर उठता है। हवा लगती है। पानी ठडा हो जाता है। इसी प्रकार गरम पानी का पात्र ऊपर रख दिया। उसमे एक कपडा डालकर, कपडे को नीचे लटका दिया। नीचे एक खाली पात्र रख लिया। धीरे-धीरे उस कपडे के माध्यम से बून्द-बून्द कर पानी नीचे के पात्र मे आता रहेगा। कपडे को हवा लगेगी। और ऊपर से नीचे आते-आते पानी ठडा हो जाएगा। यह है—वस्त्रोद्धरण विधि।

कहने वाला कितना ही ज्ञानी हो, सर्वज्ञ हो, पर सारा दायित्व होता है समझने वाले पर कि वह सर्वज्ञ द्वारा कथित तथ्यो को कितनी गहराई से समझ पाया है।

बहुत सारे लोग कहते हैं—गीता भगवान् कृष्ण की वाणी है, हम उसे समझते है। धम्मपद भगवान् बुद्ध की वाणी है, हम उसे समझते हैं। उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की वाणी है, हम उसे समझते है। भगवान् कृष्ण हो, भगवान् बुद्ध हो, भगवान् महावीर हो कोई भी हो। उनसे हमे कोई मतलब नही है। हमे देखना है कि उन वचनो को समझने वाले कितनी गहराई से उन वचनो को समझते है। आज वे शब्द पूरे समझ मे नही आते तो भला उसके नीचे छिपा सूक्ष्म अर्थ कैसे समझ मे आ सकता है? न जाने कितने गलत अर्थ किए जा रहे हैं? अध्यात्म के क्षेत्र मे भी यह त्रुटि चल रही है। इसलिए कहने वाले कहते है, अध्यात्म नीरसता पैदा करता है।

अध्यात्म जीवन को नीरस नही बनाता। अध्यात्म ही एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन को अनन्त रसायन बनाने मे समर्थ है। अध्यात्म के सिवाय कोई प्रक्रिया ऐसी नही है जो जीवन को अनन्त रसायन बना सके। पदार्थ के सारे रस, एक समय मात्र के लिए रस होते हैं, समय बीतने के बाद वे रसहीन हो जाते है। गर्मी का मौसम। चटपटा भोजन मिला, आदमी ने उसे स्वाद से खाया। कुछ ही समय पश्चात् प्यास लगी। पानी का पहला ग्लास पिया। लगा कि पानी से बढ़कर अमृत क्या हो सकता है! पानी का दूसरा ग्लास पिया। प्यास कम हो गई। पानी का मूल्य कम हो गया। पानी का तीसरा ग्लास पिया। प्यास बुझ गई। पानी का चौथा ग्लास पिया तब लगा कि पानी तो निकम्मी वस्तु है। उससे पेट क्यो भरा जाए? अब पानी का ग्लास सामने आता है तो लगता है क्यो ले आया पानी? प्यास के समय पहले ग्लास के पानी मे जो रस था, वह अन्त तक नही रहा। जैसे-जैसे प्यास बुझती है, पानी नीरस लगने लगता है। प्रत्येक पदार्थ की यही प्रकृति है। पहले उसमें बहुत रस लगता है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसका रस चुकता जाता है। केवल भोजन, पानी का ही प्रश्न नही है, कपड़े आदि सभी पदार्थो की यही प्रकृति है। यही हम उस प्रकृति का आसूत्र विश्लेषण करें

तो ज्ञात होगा कि पहली बार पदार्थ जो आनन्द देता है, फिर वह आनन्द नही मिलता, कभी नही मिलता। फिर चाहे वह विवाह हो, किसी का योग हो या किसी का सम्बन्ध हो। दो मित्रो को तोडने या अलग करने का सबसे सीधा उपाय है कि दोनो को साथ मे रख दो। वे जितने पास रहेगे दूर होते जायेगे। वे जितने दूर रहेगे, प्रेम बना रहेगा। सदा साथ मे रहने वाले पति-पत्नी का प्रेम भी टूट जाता है। साथ मे रहने वाले पारिवारिक जनो का प्रेम भी टूट जाता है। न जाने वह कितनी बार टूटता है और कितनी बार सधता है! मित्र का सबध, प्रियता—ये सब दूरी की अपेक्षा रखते है। एक निश्चित दूरी रहती है तो ये निभते है, चलते है, अन्याथा नही। निकटता आते ही परस्पर टकराहट होने लग जाती है। मित्रता टूटने लग जाती है।

क्या पदार्थ जीवन को रसमय बनाता है? नही। वह एक बार रस-मयता का आभास हमे कराता है। किन्तु समय के साथ-साथ रसमयता समाप्त होती जाती है। पदार्थ के सेवन से आदमी मे इतनी ऊब जाग जाती है कि पदार्थ का मूल्य कम हो जाता है।

एक सन्यासी था। वह बहुत प्रसिद्ध था। राजा के कानो तक उसकी यशोगाथा पहुची। उसने सन्यासी को राजमहल मे आमत्रित किया। सन्यासी गया। एक लकडी के आसन पर बैठ गया। बातचीत के समय सन्यासी ने राजा से कहा—"महाराज! जीवन का सबसे बडा मूल्य है अध्यात्म।" राजा को यह सुनकर आश्चय-सा हुआ। वह पूर्ण नास्तिक था। उसने कहा—अध्यात्म मूल्यवान् कैसे हो सकता है? वह स्वय अमूर्त है। जिसका कोई रूप नही, आकार नही, जो कुछ भी पदार्थ नही, फिर वह मूल्यवान् कैसे हो सकता है? सन्यासी समझ गया। उसने कहा—राजन्! यदि अध्यात्म मूल्यवान् नही है तो क्या तुम्हारा राज्य मूल्यवान् है! राजा ने अह की हसी हसते हुए कहा—महाराज! आप ठीक कहते है। राज्य बहुत मूल्यवान् है। आप देखे, मेरा ऐश्वर्य, मेरी सम्पदा, मेरा खजाना कितना मूल्यवान् है! सारे लोग उसको पाने के लिए ललचाते है, तरसते हैं। लोग चाहते है राजा बनना ही श्रेयस्कर है। ऐसा एक भी व्यक्ति नही मिलेगा, जिसके मन मे राजा बनने की तमन्ना न हो। मूल्य है तभी तो सब लोग तरसते हैं।

सन्यासी बोला—तुम्हारे राज्य का मूल्य है दो गिलास पानी। इस स्थिति मे वह मूल्यवान् कैसे हो सकता है?

"महाराज! आप अपनी बात को समझाए।"

"राजन! कल्पना करे कि आप एक दिन शिकार करने के लिए जगल मे गए। मार्ग भूल गए। भटक गए। दिन का समय। चिलचिलाती धूप। भरपेट भोजन किया हुआ। चटपटा भोजन। प्यास लग गई। भयकर

प्यास। यदि कुछ समय तक पानी न मिले तो प्राणो से हाथ धोना पड़े। जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। उस समय यदि भाग्यवश कोई व्यक्ति एक गिलास पानी लाकर दे, तो राजन्! आप उसे क्या देगे?"

"महाराज उस समय मै उस व्यक्ति को आधा राज्य दे दूगा।"

"अच्छा राजन्! आपने पानी पीया। संयोग ऐसा बना कि अत्यधिक उष्मा के कारण आपके मूत्र-निरोध हो गया। भयकर वेदना होने लगी। आप छटपटाने लगे। प्राण निकलने की नौबत आ गई। उस स्थिति मे कोई कुशल वैद्य, एक गिलास पानी में औषधि मिलाकर दे, तो आप उसे क्या देगे?"

"महाराज! प्राण बचाने वाले वैद्य को मै अपना आधा राज्य दे दूगा। प्राणो के सामने राज्य का मूल्य ही क्या है?"

"राजन्! अब समझ गए। आपके राज्य की कीमत है दो गिलास पानी। उसे आप बहुत कीमती कैसे बता रहे है? आधा राज्य तो एक गिलास पानी पीने मे चला जाता है और शेष आधा राज्य एक गिलास पानी निकालने में चला जाता है, तो समूचे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी से अधिक नही होता।"

प्रत्येक पदार्थ के मूल्य की यही स्थिति है। यथार्थ मे पदार्थ का मूल्य बहुत कम होता है। अपेक्षा के आधार पर ही उसकी मूल्य वृद्धि होती है।

जिस दिन सचाई की आख खुल जाएगी, ऐसा लगेगा कि हमने इतनी बडी मूर्खता की है कि देव पुरुषो को मूल्यहीन मानते रहे है और मूर्खों को मूल्य देते रहे—अध्यात्म को मूल्यहीन समझते रहे और पदार्थ को मूल्यवान् मानते रहे।

अध्यात्म की यात्रा मूल्य-प्रस्थापना से प्रारम्भ होती है, मूल्य के विवेक से प्रारम्भ होती है। जब सम्यग्दृष्टि जागती है तब मूल्यो का विवेक जागता है कि किसको कितना मूल्य देना चाहिए। आचार्य वह होता है जो इस बात का निर्णय कर सकता है कि किसको कितना मूल्य देना चाहिए। जिसमे यह विवेक नही होता, वह आचार्य नही हो सकता, यदि कोई आचार्य बन जाता है तो वह आचार्यतत्र को निभा नही सकता।

सबसे बडी बात है मूल्यो का विवेक। अध्यात्म से सम्यग्दृष्टि जागती है तब व्यक्ति जिसका जितना मूल्य होता है। उसको उतना मूल्य देता है। आहार-शुद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि का सिद्धांत मूल्यो का सिद्धान्त है। किस आहार को कितना मूल्य दिया जाए, किस इन्द्रिय को कितना मूल्य दिया जाए, यह विवेक-जागरण पर निर्भर करता है। अध्यात्म के आचार्यों ने आहार को भी मूल्य दिया है और इन्द्रियो को भी मूल्य दिया है, किन्तु उतना ही मूल्य दिया है जितना उनका मूल्य है, अधिक मूल्य नही दिया। इन्द्रिय-

शुद्धि का यह अर्थ नही कि आखो को फोड दो—चक्षु इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी। कानो के पर्दो को फाड दो, श्रोत्र-इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी या चमडी को उखाड दो, स्पर्श-इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी। इन्द्रिय-शुद्धि का अर्थ है कि जिस इन्द्रिय का जितना मूल्य हो, उतना ही मूल्य देना, न कम और न अधिक। आज समाज मे उनको अतिरिक्त मूल्य देने की प्रवृत्ति बढी है। इसको मिटाना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति को यह बात समझानी चाहिए कि इन्द्रियो का जितना मूल्य माना जा रहा है, उतना उनका मूल्य नही है। यह बात चाहे प्रत्येक व्यक्ति के समझ मे न आए, किन्तु जब मनुष्य इन्द्रियो को अतिरिक्त मूल्य देने के कारण प्रताडित होता है, तब यह बात स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाती है। प्रत्येक बात प्रताडना के बाद ही समझ मे आती है, पहले नही।

अमेरिका के एक प्रसिद्ध उद्योगपति से किसी से पूछा—आपकी सफलता का रहस्य क्या है ? उसने कहा—सही समय मे सही निर्णय लेने की क्षमता ने ही मुझे सफलता के शिखर पर चढाया है। सही निर्णय का आधार है—अनुभव। अनुभव का आधार है—गलत निर्णय। मैंने अनेक बार गलत निर्णय लिए। उन गलत निर्णयो से हानि उठाई तब अनुभव के आधार पर ही सही निर्णय लेने की क्षमता जागी और सही निर्णय के आधार पर सफलता मिलती गई।

गलती के बिना कोई आदमी कैसे सीख सकता है।

एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा—तुम्हे इतनी बुद्धि कहा से मिली ? बीरबल बोला— मूर्खो से। मैने देखा कि जिन कामो के आधार पर व्यक्ति मूर्ख होता है, मैने वे काम छोड दिए। मै बुद्धिमान होता गया। दुनिया मे मूर्खों और पागलो की कमी नही है।

एक वकील ने मरते समय अपनी वसीयत लिखी। उसमे लिखा कि मेरी सारी सपत्ति मूर्खो और पागलो मे बाट दी जाए। क्योकि मैने यह सारी सपत्ति मूर्खो और पागलो से ही बटोरी है।

प्रताडनाओ, गलतियो और मूर्खताओ के बिना कोई भी आदमी सही निर्णय पर नही पहुचता। मनुष्य समाज ने भी बहुत गलतिया की। उसने इन्द्रियो को बहुत मूल्य दिया। उसके दु खद परिणाम सामने आए। उसे तब यह भान हुआ की इन्द्रियो को अतिरिक्त मूल्य देना खतरे से खाली नही है। जीवन मे बहुत हानि होती है, बडी कठिनाइया उठानी पडती है। इससे उसे बोध-पाठ मिला। बोध-पाठ लेते-लेते इन्द्रिय-शुद्धि की बात सूझी। उसने सोचा—इन्द्रिय-शुद्धि की जाए। इन्द्रियो को अतिरिक्त मूल्य न दिया जाए। उन पर विजय प्राप्त की जाए।

सही समय पर सही निर्णय अध्यात्म के आचार्यो ने

उन्होने समाज के सामने इन्द्रिय-शुद्धि और इन्द्रिय-विजय की वात प्रस्तुत की। प्रश्न होता है कि क्या ऐसा करना संभव है या हम असभव को संभव बनाने का निरर्थक प्रयत्न कर रहे हैं ? यह असभव चर्चा नही है। यदि हम नियमो को जान लें तो इन्द्रिय-शुद्धि हो सकती है, इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

हमारी दुनिया मे वहुत सारे नियम हैं। पदार्थ का अपना नियम है और अध्यात्म का अपना नियम है। प्रत्येक विज्ञान का अपना नियम होता है। पदार्थ की सूक्ष्म प्रकृति और संरचना के नियमो का हमे पता चल जाए तो कोई बात असभव नही रहती और यदि नियमो का पता न चले तो प्रत्येक बात असभव ही होती है।

मै यहा बोल रहा हू। ऊपर बैठे सैकडो लोग सुन रहे है। न मै उन्हे देख पा रहा हू और न वे मुझे देख पा रहे है। फिर भी सुनने मे कोई वाधा नही है। सौ वर्ष पहले यह असभव लगता था, आज यह सभव हो गया है। आज इतना संभव हो गया कि दुनिया के किसी कोने से कोई वोलता है और विश्व के सारे लोग सुन लेते हैं। सूक्ष्म नियम का पता चला और यह असभव वात भी सभव हो गई।

अध्यात्म सूक्ष्म नियमो की खोज है। अध्यात्म केवल धर्म का ही विज्ञान नही है। वह प्रकृति का सूक्ष्मतम गुत्थियो को सुलझाने वाला विज्ञान है। उसके द्वारा प्रकृति का सूक्ष्मतम अध्ययन होता है, विमर्श होता है और सूक्ष्म नियमो का पता लगाया जाता है।

प्रारम्भ मे युवक ने प्रश्न उपस्थित किया था कि अध्यात्म अरस की ओर ले जाता है। यह ठीक है, क्योकि अध्यात्म मे प्रवेश करते ही आपको रसो को छोड़ने की बात कही जाती है। उसमे सबसे ज्यादा वल जीभ को वश में करने के लिए दिया जाता है, इन्द्रिय-विजय की वात कही जाती है। यह क्यो ? वहुत गहरा नियम खोजा गया कि मनुष्यो को सवसे अधिक भटकाने वाली वात है—कामुकता। सेक्स भटकाता है। फ्रायड ने ठीक कहा था कि सेक्स मनुष्य की मूल मनोवृत्ति है। वह समूचे जीवन पर हावी रहती है। आज के शरीरशास्त्रियो और मानसशास्त्रियो ने कहा है कि और सब तनाव सामयिक होते है किन्तु सेक्स का तनाव निरन्तर वना रहता है। कामुकता वहुत वडा खतरा है। उस खतरे को मिटाने के लिए अध्यात्म ने पहली वात कही कि जव तक कामुकता को कम नही किया जाएगा तव तक मानसिक अशाति का प्रश्न कभी समाहित नही होगा। कामुकता कम करने के लिए जीभ का संयम अनिवार्य है। आश्चर्य होता है कि जीभ और कामुकता का क्या सम्बन्ध ? जव तक हम नियम को नही जानते तव तक हमे सम्वन्ध का पता नही चलता। जव सूक्ष्म नियम ज्ञात हो जाता है तव सम्वन्ध स्पष्ट हो

जाता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक पद्य है—

"रसा पगामं न निसेवियव्वा, पाय रसा दित्तिकरा नराण ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुम जहा साउफलं व पक्खी ।।"

रसो का अधिक सेवन मत करो। रसो के अधिक सेवन से उन्माद वढता है । जब उन्माद वढता है तब कामुकता बढती है । कामुक व्यक्ति पर काम-वासना वैसे ही आक्रमण कर देती है जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष पर पक्षी आक्रमण करते है ।

यह कथन किसी अज्ञानी का नही है । यह कथन उन व्यक्तियो का है जो इस सूक्ष्म नियम को जानते थे कि जीभ का और जननेन्द्रिय का निकट का सवध है, गहरा सवध है । इस सवध की व्याख्या मैं तत्रशास्त्र के द्वारा करना चाहता हू । तत्रशास्त्र मे पाच तत्त्वो की मीमासा है— पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व । इन पाचो तत्त्वो की पाच ज्ञानेन्द्रिय है और पाच कर्मेन्द्रिय है ।

पांच तत्त्व	पांच ज्ञानेन्द्रिया	पाच कर्मेन्द्रियां
१ पृथ्वी तत्त्व	घ्राण	अपान
२ जल तत्त्व	जिह्वा	जननेन्द्रिय
३ अग्नि तत्त्व	चक्षु	पैर
४ वायु तत्त्व	स्पर्शन	हाथ
५ आकाश तत्त्व	श्रोत्र	वाक्

जल तत्त्व मे सारे रस समाविष्ट हो जाते है । जल तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है जिह्वा और कर्मेन्द्रिय है जननेन्द्रिय । इस प्रकार जननेन्द्रिय और जिह्वा— दोनो जल तत्त्व से सवद्ध है । दोनो का गहरा सबध है । जब जिह्वा को रस अधिक मिलेगे तव कामुकता बढेगी । जल तत्त्व दोनो को पुष्ट करता है, सिंचन देता है ।

अग्नि तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है चक्षु और कर्मेन्द्रिय है पैर ।

क्रोध का पहला लक्षण है आखो का लाल हो जाना । अग्नि तत्त्व के वढते ही क्रोध उभरता है और आखे लाल हो जाती है, भृकुटि तन जाती है। क्रोध आए और आखे लाल न हो, ऐसा नही होता । लाली इतनी बढती है कि वह बाहर तक आ जाती है ।

रामायण का एक प्रसग है। राम ने सीता से पूछा—तुम जिस वाटिका मे थी, उसके फूल कैसे थे ? सीता ने कहा—सफेद । हनुमान से भी वह प्रश्न पूछा । उसने कहा—लाल । दोनो थे प्रत्यक्षदर्शी । दोनो के उत्तर एक दूसरे से विपरीत । किसको झुठलाया जाए, किसको सही माना जाए ?

सीता ने कहा—जो मै कहती हू वह शत-प्रतिशत सही है। सारे फूल सफेद थे। हनुमान बोला—जो मैं कहता हू, वह प्रत्यक्ष दर्शन की बात है। सारे फूल लाल थे। दोनो मे विवाद बढ़ा। राम ने विवाद को समेटते हुए कहा—दोनो सही हो। कैसे ? उस समय सीता शान्त थी वह शात रस मे स्नात थी। किसी के प्रति उसके मन मे रोष नही था। उसकी आखो से अमृत झर रहा था। उसको सब कुछ सफेद ही सफेद दिख रहा था। उसके लिए सारे फूल सफेद थे। हनुमान जब लका मे गया, उस वाटिका मे पहुंचा, तब उसका क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर चुका था। वह क्रोध से लाल-पीला हो रहा था। आखो से अग्नि बरस रही थी। उस समय उसे सब कुछ लाल ही लाल दिख रहा था।

सीता और हनुमान दोनो का उत्तर सही था। वाटिका के फूल सफेद और लाल दिख रहे थे। जब क्रोध आता है तब आखो से खून बरसने लग जाता है। केवल आख ही लाल नही होती, फूल भी लाल हो जाते है।

सही बात यह है कि पदार्थो के रसो का सयम किए बिना कामुकता को कम नही किया जा सकता। रस और कामुकता परस्पर सबद्ध है। दोनो जल तत्त्व के द्वारा जुडे हुए हैं। जीभ को सिंचन मिलने का तात्पर्य है जननेन्द्रिय को सिंचन मिलना। यह कभी नही हो सकता कि मनुष्य जिह्वा का पोषण करता रहे, पूरा स्वाद लेता रहे, जीभ के स्वादाकुरो को तृप्त करता रहे और जननेन्द्रिय को वश मे करने की बात भी सोचता जाए। वह अपने प्रयत्न मे कभी सफलता नही पा सकता। अपवाद की बात को हम छोड दें। वह सामान्य नियम नही हो सकता।

अध्यात्म ने इन सूक्ष्म नियमो की खोज की। मैंने केवल एक नियम का कथन मात्र किया है। यदि हम सारे नियमो को जानने का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि अध्यात्म के आचार्यो द्वारा प्रतिपादित ये सूक्ष्म नियम भावावेश में कहे गए नियम नही है, उनका वैज्ञानिक आधार भी सुस्पष्ट है। ये सारी सचाइयां है।

मनोनुशासनम् मे आहार-शुद्धि के बाद इन्द्रिय-शुद्धि की बात कही गई है। इस ग्रन्थ मे उसके दो उपाय निर्दिष्ट है—

१. स्वविषयान् प्रति सम्यग् योगः।

२. प्रतिसंलीनता च।

इन्द्रिय-शुद्धि के दो उपाय हैं—(१) अपने-अपने विषयो के प्रति सम्यग् योग होना चाहिए (२) प्रतिसलीनता होनी चाहिए। ये दोनो उपाय दो बड़े नियमो पर आधारित हैं। पाच इन्द्रियो के पाच विषय हैं। आख का विषय है रूप, कान का विषय है स्वर, घ्राण का विषय है गध, जीभ का विषय है रस और त्वचा का विषय है स्पर्श। ये पाच इन्द्रिया हैं और ये पांच

इनके विषय है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने विषय के साथ सम्यग् योग होना चाहिए। अध्यात्म का व्यक्ति भी इन्द्रिय-विषयो का सेवन करता है। वह देखता है, सुनता है, चखता है, स्पर्श करता है। किन्तु वह इन इन्द्रियो तथा उनके विषयो को भली प्रकार से जानता है।

प्रश्न होता है कि नियम क्या है ? चेतना का नियम है जानना और देखना। यही चेतना का स्वभाव है। केवल ज्ञाताभाव और केवल द्रष्टाभाव। चेतना की वह मूल प्रकृति है। अध्यात्म का व्यक्ति इस नियम के आधार पर चलेगा कि चेतना का व्यापार केवल इतना ही है। प्रियता और अप्रियता उसका काम नही है। प्रियता और अप्रियता—ये दो गदी नालिया बाहर से आकर इनमे मिलती है। हमारी चेतना की शुद्ध धारा बहती है। उसके साथ कषाय की धारा मिल जाती है तब वह विशुद्ध नही रहती। तब इन्द्रिय का विषय केवल विषय नही रहता, वह विकार बन जाता है। जब विषय विकार बन जाता है तब रूप हमारे लिए केवल रूप नही रहता। वह प्रिय या अप्रिय बन जाता है। तब रस हमारे लिए केवल रस नही रहेगा। वह या तो स्वादिष्ट होगा या अस्वादिष्ट होगा। हमारी सारी दृष्टि चेतना की दृष्टि या ज्ञेय की दृष्टि न रहकर प्रियता या अप्रियता की दृष्टि बन जाती है। इस दृष्टि का फलित यह होता है कि व्यक्ति या तो किसी से प्रेम करने लगता है या किसी से घृणा करने लग जाता है। वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय मानने लग जाता है। प्रियता इसलिए चलती है कि अप्रियता का अस्तित्व भी बराबर बना हुआ है। प्रेम इसलिए चलता है कि घृणा भी साथ-साथ चलती है। केवल प्रियता नही चल सकती। केवल अप्रियता नही चल सकती। केवल प्रेम नही चल सकता। केवल घृणा नही चल सकती। दोनो साथ-साथ चलते है। या तो दोनो रहेगे या दोनो नही रहेगे। एक कभी नही रह सकता। ऐसा एक भी व्यक्ति नही है जो केवल प्रेम ही करता हो। ऐसा एक भी व्यक्ति नही है जो केवल घृणा ही करता है। जो प्रेम करता है वह घृणा भी करता है। जो घृणा करता है वह प्रेम भी करता है।

विषयो के प्रति सम्यग् योग का अर्थ है कि व्यक्ति ज्ञेय को ज्ञाता की दृष्टि से जाने। प्रियता या अप्रियता के भाव को निकाल दे। यह इन्द्रिय-शुद्धि का पहला उपाय है। इससे चेतना स्वच्छ रहेगी। गदी नालिया उसमे नहीं मिलेगी। वे दूर हो जायेगी।

दूसरा उपाय है—प्रतिसलीनता। व्यक्ति का अभ्यास है कि वह बाहर की ओर ज्यादा देखता है। व्यक्ति की सारी लीनता पदार्थ के प्रति है, बाहर की ओर है। बाहर के प्रति उसकी लीनता चरम सीमा तक पहुच जाती है। वह जिधर देखने लग जाता है उधर ही देखता रहता है। यह बच्चे की

प्रवृत्ति है कि वह एकटक लम्बे समय तक एक विन्दु पर देखता ही रह जाता है।

मेरी अपनी घटना है। मै छोटा वच्चा था। दस वर्ष का भी नही था। मै अपने परिवार वालो के साथ कलकत्ता गया। जन्मा था टमकोर मे। वहुत छोटा-सा गाव। कलकत्ते जैसे वडे शहर को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। परिवार वालो के साथ वाजार मे गया। एक दुकान पर माल खरीदने के लिए वे रुके। मै दुकान मे पडे विविध पदार्थो को देखता रहा। इतनी चीजे! इतनी वडी दुकान!! कहा है टमकोर मे? मै एकटक देखता रहा। परिवार वालो ने माल खरीदा और चलते वने। मै देखता ही रह गया। ध्यान टटा तो देखा कि परिवार वाला कोई सदस्य नही है। मै बिछुड गया। कोई नियति का योग था, आचार्य तुलसी के चरणो मे आना था, भटकते-भटकते घर आ गया। मेरे जैसा अवोध वच्चा, जो भटक गया था, सुरक्षित घर आ गया, यह भी एक दैवी घटना ही थी।

एकटक देखना या भान भूल जाना – यह वच्चे मे ही नही होता, वडे वडे व्यक्ति भी इसके जाल मे फसे रहते है। जव कोई प्रिय रूप, स्वर या गध सामने आता है तव वे व्यक्ति भान भूल जाते हैं और अपने वोध को भी खो देते है। यह प्रकृति उनको चेतना के द्वारा सही स्वभाव का अनुभव नही होने देती।

प्रियता और अप्रियता की वात छूटती है जब लीनता का क्षेत्र वदल जाता है। यह रसहीनता नही, किन्तु जो व्यक्ति अपने भीतर महान् रस को खोज लेता है, उसकी सारी लीनता वदल जाती है, आकर्षण वदल जाता है।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। जव वह श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और प्रकपन-प्रेक्षा मे लीन होता है तव वाहर की लीनता अपने आप छूट जाती है। उसका काल-वोध वदल जाता है, दिशा वोध वदल जाता है। एक घंटा प्रेक्षा करते हैं और अनुभव होता है कि मानो दस मिनट वीते हो। यह इसलिए होता है कि लीनता वदल जाती है। भीतर का रस जब जागता है तव सारी स्थितिया वदल जाती है। अध्यात्म रसहीन वनाने की प्रक्रिया नही, किन्तु अपने भीतर छिपे हुए महान् रसो को उद्घाटित करने की प्रक्रिया है। जिसने अपने भीतर के रस की महान् तरगो का स्पर्श नही किया, वही व्यक्ति वाहर के पदार्थो को रसमय और भीतर के रसो को नीरस मानता रहेगा। किन्तु जिस दिन वह इस समुद्र की तरंगो का एक वार भी स्पर्श कर लेगा, उसके रस की सारी धारणा वदल जाएगी और तव भीतर का रस-स्रोत फूट पड़ेगा।

इन्द्रिय शुद्धि के दो उपाय हैं—

१. विषयो के प्रति सम्यग् योग।

२. लीनता को बदलना—रस की धारणा को बदलना और उसका अनुभव करना।

जो व्यक्ति ऐसा कर लेता है उसके लिए इन्द्रिय-शुद्धि सहज हो जाती है। उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने आप होने वाली जीवन की महान् घटना बन जाती है।

श्वास का अनुशासन

एक शिविरार्थी भाई ने कहा—प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, एक घोष सुना—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखे। मन वहुत प्रसन्न हुआ कि हम आत्मा को देख पायेगे। चिर-स्वप्न साकार होगा। मनुष्य मे आत्मा को देखने की प्रवल लालसा होती है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा को देखना चाहता है, परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है। वह उन्हे खुली आखो से देखना चाहता है, सामने खडे हो, वैसे देखना चाहता है। मुझे अच्छा लगा कि वस, अव आत्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। किन्तु प्रयोग के प्रारम्भ मे ही कहा गया– श्वास को देखे। मुझे वडी निराशा हुई। आया था आत्म-साक्षात्कार करने और कराया जा रहा है श्वास-दर्शन। स्वप्न मीठा था, पर वह वीच मे ही टूट गया। कहा आत्म-साक्षात्कार और कहा श्वास-दर्शन! प्रश्न हुआ, क्या शिविर मे श्वास को ही देख पायेगे? यदि यही शिविर की फलश्रुति है तो यहा आने की जरूरत ही क्या है। श्वास बेचारा रोज चलता है। घर पर चलता है, दुकान मे चलता है। सोते, उठते, वैठते यह चलता ही रहता है। उसे हम कही भी देख लेते। इतना आयास उठाकर यहा आने की आवश्यकता ही क्या थी? फिर हमे वताया क्यो गया कि आत्मा के द्वारा आत्मा को देखे?

तर्क आखिर तर्क होता है। प्रत्येक तर्क का प्रतितर्क होता है। कम-जोर तर्क को वलवान तर्क काट देता है। तर्क कितना ही वलवान हो उसको काटने के लिए दूसरा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। दुनिया मे ऐसा एक भी तर्क नही है, जिसका प्रतितर्क न हो, विरोधी तर्क न हो। एक वार सुनते है तो लगता है कि तर्क अकाट्य है। जो अकाट्य होता है वह तर्क हो नही सकता। अनुभव मात्र अकाट्य होता है। तर्क कभी अकाट्य नही होता। तर्क है वुद्धि का खेल। जो वुद्धि से सवधित है वह अकाट्य नही हो सकता। अनुभव का संवध चेतना से है। उसके साथ शाश्वत सत्य का पक्ष होता है। तर्क के साथ शाश्वत सत्य का पक्ष नहीं होता।

मै तर्क मे नही उलझा और इसीलिए नही उलझा कि कल ही मैंने मेरे आचार्य से सुना था—तर्क मे सचाई नही मिलती। तर्क सत्य तक नहीं पहुचाता। मैं उलझा नही। मैंने शिविरार्थी की बात सुनी। दो क्षण मौन रहा। फिर मैने कहा—भाई! तुम्हारी वात को काटना नही चाहता। तर्क के प्रति तर्क प्रस्तुत करना नही चाहता। एक कहानी सुनाना चाहता हूं

और इसलिए कि तर्क नीरस होता है, कहानी सरस होती है। जब हम सरसता की वाते कर रहे है तो फिर नीरसता को बीच मे क्यो लाये ? तुम्हारे मन मे यह प्रश्न इसलिये उठा कि तुम नियम को नही जानते। यदि नियम ज्ञात होता तो यह प्रश्न समस्या नही बनता। जब तक हम नियम को नही जानते तब तक हर वात समस्या बन जाती है।

एक आदमी दौडा जा रहा था। पीछे-पीछे कुत्ता भी दौड रहा था। आदमी कुत्ते के डर से भाग रहा था। आगे आदमी दौड रहा है, पीछे कुत्ता भाग रहा है। पर दोनो क्यो दौड रहे है ? इस प्रश्न का उत्तर नियम को जान लेने पर ही दिया जा सकता है। आदमी भय के कारण दौड रहा है ? जब भय वढता है तब आदमी की एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव वढ जाता है। उस एड्रीनलीन रस की गन्ध कुत्ते को आती है, कुत्ता गन्ध के पीछे दौडता है। आदमी के पीछे कुत्ता नही दौडता। कुत्ता दौडता है उस गन्ध के पीछे। आदमी भय को छोडकर यदि खडा हो जाता है, कुत्ते को गन्ध आनी वन्द हो जाती है और वह भी खडा रह जाता है। दौडता हुआ आदमी स्वयं कुत्ते को दौडाता है। गन्ध का आकर्षण कुत्ते को दौडाता है।

आदमी खडा रहना नही जानता, इसलिये सव उसके पीछे दौड रहे हैं। यदि वह खडा रहना जान जाए तो कोई भी पीछे नही दौडेगा। स्वय खडा रहे तो सब खडे रह जाएगे। हम नियम को नही जानते। दशवैकालिक आगम मे एक श्लोक है—

'हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए सजइदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खु ॥'

इस श्लोक को पढा तो लगा कि आगमकार ने कितनी छोटी-छोटी वातो का उल्लेख किया है। आगमकार कहते है—हाथ का सयम करो, पैरो का सयम करो, वाणी का सयम करो। ये सारी साधारण वाते है। किंतु जव नियम का पता चला तव ज्ञात हुआ कि यह श्लोक वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमे दिये गये निर्देश वहुत महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक का नियम मै पहले प्रस्तुत कर चुका हू लेश्या के प्रकरण मे, 'आभामडल' ग्रन्थ मे। दूसरे नियम को आज प्रस्तुत करना चाहता हू।

यह एक श्लोक है। इसकी कम से कम सात सौ व्याख्याए तो हो सकती है। एक नियम वतलाया गया है कि भगवान् महावीर के प्रत्येक वचन की सात सौ व्याख्याए की जा सकती है। यदि कोई अधिक प्रज्ञा वाला व्यक्ति हो और अधिक नयो का ज्ञाता हो तो उसकी सात हजार, सात लाख, सात करोड या सात अरब व्याख्याए भी कर सकता है। परन्तु कम-से-कम सात सौ व्याख्याए तो हमारे वश की वात है। यह तभी सभव है, जव हम नियम को जान जाए। नियम का ज्ञान होने पर नई-नई वाते उद्घाटित की जा

सकती हैं।

श्लोक मे तीन तथ्य बताए गए है। हाथ का सयम करो, पैर का संयम करो और वाणी का सयम करो। इसके द्वारा तुम जितेन्द्रिय बन जाओगे। प्रश्न होता है—कैसे होगा ? हाथ का सयम होगा तो स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाएगी। ये सब जुडे हुए हैं। इनके सम्बन्ध का नियम ज्ञात होने पर इनको जीतना सरल हो जाता है। आयुर्वेद के आचार्यो ने लिखा—आंख मे पीडा हो तो पैर की अगुलियो पर तेल लगाओ, आख की पीड़ा शात हो जाएगी। यह कैसा सबध ? ऊट और गधे का रिश्ता। कहा आख और कहा पैर ! पर यह एक सचाई है। आख और पैर—दोनो अग्नितत्त्व से जुडे हुए है। अग्नितत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है चक्षु और कर्मेन्द्रिय है पैर। दोनो का नियम परस्पर जुडा हुआ है। यह नियम हो जाने पर उनका सम्बन्ध मन मे आश्चर्य पैदा नही करता। तेज धूप मे चलते हैं तब पैर गर्म हो जाते हैं तो साथ-साथ आखें भी गरमा जाती है। आंख बीमार होती है तो पैरो को ठडे पानी मे रखने से उसकी बीमारी शान्त हो जाती है। वायुतत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है स्पर्शन और कर्मेन्द्रिय है हाथ। हाथ का और स्पर्शन इन्द्रिय का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। हाथ का सयम होने पर स्पर्शन इन्द्रिय वश मे हो जाता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुआ है। इद्रियों पर विजय पाने के और भी सरल उपाय है। आख को बन्द कर दो, दिखाई नही देगा। कान मे अंगुली डाल दो, सुनाई नही देगा। नाक मे रूई डाल दो, सुगन्ध या दुर्गन्ध नही आएगी। परन्तु स्पर्शन इद्रिय पर विजय कैसे पाई जाए ? कोई उपाय ही नही लगता। यह सबसे जटिल प्रश्न था। परन्तु इस श्लोक का प्रथम शब्द 'हत्थसजए' इस प्रश्न का सचोट समाधान प्रस्तुत करता है। हाथ का सयम करो, स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाएगी। हाथ का सयम करने से उनकी विद्युत् भीतर की ओर प्रवाहित होगी तब स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाएगी। वायुतत्त्व का सम्बन्ध है स्पर्शन इन्द्रिय से। वायुतत्त्व का सम्बन्ध है हमारे हाथो से। ध्यान-काल मे जिनको वायु अधिक सताता है, ज्यादा चचलता लाने लगता है। तब एक मुद्रा की जाती है—वायु-विजय के लिये। साधक पद्मासन मे बैठ कर हाथ के अगूठो के निचले पोरो पर कनिष्ठा अगुली को लगा देता है। इस मुद्रा के कुछ ही समय पश्चात् वायु का प्रकोप कम होने लग जाता है।

पैर का संयम करने से आंख का सयम हो जाएगा। वाणी का सयम करने से श्रोत्रेन्द्रिय का संयम हो जाएगा। दोनो आकाश तत्त्व से सबद्ध हैं। आकाश तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है श्रोत और कर्मेन्द्रिय है वाक्।

जब हम इन सब नियमो को जान लेते है। तब यह श्लोक हमे बहुत

महत्त्वपूर्ण लगता है। जब तक नियमो को नही जानते तब तक श्लोकगत बातें साधारण-सी लगती हैं। हाथ का सयम करो। हाथ का क्या संयम करें ? क्या उसको हिलाए नही ? किसी को चाटा तो मार ही नही रहे हैं। फिर और अधिक क्या सयम करे ? पैर का क्या सयम करे ? किसी को लात तो मार ही नही रहे हैं। फिर कैसा सयम ? जब नियम ज्ञात नही होता तब अनेक प्रकार के प्रश्न खडे होते हैं। जब नियम तक पहुंच जाते है तब सारे प्रश्न स्वत समाहित हो जाते है।

मैंने प्रश्नकर्त्ता शिविरार्थी से कहा—तुम इसलिये कर रहे हो कि तुम नियम को नही जानते। नियम को जान लो, प्रश्न समाप्त हो जाएगा।

एक व्यक्ति ने किसी जौहरी से कहा—तुम मेरे घर पर चलो। मेरे पास एक वहुमूल्य हीरे की अगूठी है। उसका सही मूल्याकन कराना है। जौहरी उसके घर गया। पहले दरवाजे मे प्रवेश किया। वह व्यक्ति बोला—देखो, यह राजस्थानी शिल्प है। कितनी सुन्दर कारीगरी है ! शिल्पी ने कितना गजब का शिल्प प्रस्तुत किया है। दूसरे दरवाजे मे प्रवेश किया। व्यक्ति ने जौहरी से कहा—देखो, कितना सुन्दर वातायन है। इसकी चित्र-कला को देखो। कितने भव्य और सुन्दर चित्र है ! चित्रकार ने अपनी सारी कला यहा अभिव्यक्त कर दी है। जौहरी बोला—भले आदमी ! मुझे इन सब चीजो को देखने-परखने का समय नही है। मै तो हीरे की अगूठी देखने आया हू। बताओ, वह कहा है ? वह बोला—धैर्य रखो। जब तुम आ ही गए हो तो मेरी सारी चीजे देखो। यह नही होगा कि मैं सबसे पहले हीरे की अगूठी दिखा दू। घर आ ही गए तो सब कुछ देखना होगा।

दोनो ने तीसरे दरवाजे मे प्रवेश किया। वह बोला—जौहरी जी ! देखो, कितना सुन्दर स्थापत्य है ! दुनिया मे अन्यत्र ऐसा स्थापत्य देखने को नही मिलेगा।

इस प्रकार वह सातो दरवाजो का वर्णन करते-करते जौहरी को घुमाता रहा। एक-दो घण्टा बीत गया। फिर उसने कहा—यह हमारा अतिथिगृह है। यह हमारा स्वागत-कक्ष है। यह भोजन गृह और यह शयन-कक्ष है। तुम स्वागत कक्ष मे बैठो। मैं नाश्ते की तैयारी करता हू। घर आए हो तो बिना खाए कैसे जाओगे।

इस प्रकार वह जौहरी का समय लेता रहा। नाश्ता कराया। फिर घर की छत पर ले गया। वहा से नगर का दृश्य दिखाया। फिर उसे भूमि-गृह (भोहरे) मे ले गया। वहा उसे एक आसान पर विठाया। अलमारी खोली। एक डब्बी निकाली। डब्बी को खोला। उसमे थी वह हीरे की अगूठी। उस पर अनेक वस्त्र लपेट रखे थे। एक-एक वस्त्र खण्ड को अलग

किया। फिर अगूठी लेकर जौहरी से कहा—यह है मेरी हीरे की अगूठी।

मैंने मेरे शिविरार्थी प्रश्नकर्त्ता से पूछा—क्या वह जौहरी मूर्ख था जो हीरे की अगूठी देखने आया था और उनको देखने की प्रक्रिया मे और-और पचासो चीजे देखी ? वह बोला—मूर्ख कैसे ? यह तो क्रम ही है। यदि वह पहले दरवाजे मे नही आता तो भूमिगृह मे कैसे जाता ? एक-एक दरवाजा पार करने पर ही तो वहा पहुचा है। अलमारी नही खुलती तो डिविया कैसे निकलती ? डिविया नही निकलती तो अगूठी कैसे बाहर आती। यह तो क्रम है। सबको इसी क्रम मे से गुजरना होता है। यह मूर्खता क्यो ? यह तो समझदारी है।

मैने कहा—तो फिर तुम कैसी मूर्खता की बात करते हो ? आत्मा को देखना चाहते हो, उसका साक्षात्कार करना चाहते हो तो क्या श्वास-दर्शन किये बिना आत्म-दर्शन हो जाएगा ? श्वास-दर्शन प्रथम द्वार है। क्या प्रथम द्वार मे प्रवेश किए बिना भूमिगृह मे चले जाओगे ? यह कभी सम्भव नही है। बाहर से छलाग मार कर भीतर नही पहुचा जा सकता। एक-एक दरवाजे को क्रमश पार करके ही भीतर तक पहुचा जा सकता है। यह निश्चित नियम है। आत्मा तक पहुचने के लिए सात दरवाजे पार करने होगे। पहले श्वास को देखना है। शरीर को देखना है। शरीर मे होने वाले परिवर्तनो को—रसायनो को देखना है। शरीर की विद्युत् के आवेशो को देखना है। उस विद्युत् द्वारा होने वाले मस्तिष्कीय परिवर्तनो को देखना है। प्रत्येक कोशिका को देखना है। उसमे होने वाली प्रक्रिया को देखना है। इस प्रकार स्थूल शरीर की सीमा को पार कर, फिर सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर को देखना है। वहा उभरने वाले सारे प्रकम्पनो को देखना है, पकडना है। वहां आने वाले चित्रो को देखना है। वहा से आगे सूक्ष्मतम शरीर—कार्मण शरीर, कर्मशरीर तक पहुचना है। वहा से सारा तत्र सचालित होता है। बहुत बडा तत्र है वह। वहा लाखो करोडो नही, असख्य कर्मचारी कार्यरत रहते हैं। वे प्रत्येक क्रिया को सही ढग से सचालित कर रहे है। वहा कुछ भी अन्यथा नही होता। उस पूरे तत्र को देखना है। पूरे कर्मशरीर को देखना है। उसकी प्रत्येक क्रिया का साक्षात् करना है। इतना होने पर एक नया मार्ग खुलेगा। उस मार्ग पर बढते ही सब कुछ प्रकाश ही प्रकाश नजर आएगा। यह है चेतना का दर्शन। यह है आत्मा का दर्शन, आत्मा का साक्षात्कार। यह है हीरे की अगूठी, यह है उस हीरे की अगूठी को देखने की प्रक्रिया।

तुम चाहते हो कि पहला दरवाजा खुले ही नही और आत्मा तक पहुच जाएं, परमात्मा मिल जाए। यह कभी सभव नही है। प्राप्ति का क्रम है। उसका अतिक्रमण नही होना चाहिए। यह शरीररूपी मकान बहुत बडा

है, विशाल है। एक-एक कर इसके सात परकोटे हैं। बिना इनको पार किये भीतर तक नही पहुचा जा सकता। भीतर से बहुत बडी व्यवस्था है। उसे पूर्णरूपेण समझे बिना भीतर प्रवेश नही हो सकता। छलाग की वात मत करो। विकासवाद ने छलाग की वात कही। कुछेक लोग छलाग की बात करते है, उसमे विश्वास करते है। परन्तु अध्यात्म के मार्ग मे, साधना के पथ मे छलाग की बात सार्थक नही है। वहा क्रम से ही चलना पडता है। धीरे-धीरे एक-एक आयाम को पार कर, मजिल प्राप्त करनी होती है।

मैने कहा, अब तो समझ गये तुम कि श्वास को देखना आत्मा को देखना है। क्या दरवाजे को मकान से अलग किया जा सकता है? कभी नही। यदि दरवाजा मकान नही है तो कमरा भी मकान नही है। बाहर का कमरा भी मकान नही है तो भीतर का कमरा भी मकान नही है। यदि दरवाजा और कमरे मकान नही है तो फिर मकान है क्या? उसका अस्तित्व कहा है? दरवाजे को तोड दो, कमरो को तोड दो, मकान कुछ रहेगा ही नही। दरवाजा भी मकान है, घर का आगन भी मकान है। कमरा भी मकान है। सबको मिलाकर देखो, मकान नजर आएगा। सबको तोड कर देखो, कोई मकान रहेगा ही नही। क्या हाथ शरीर है? नही मानेंगे कि हाथ शरीर है। आदमी का हाथ सड गया। उसको काट कर अलग कर दिया तो क्या शरीर नही बचा? शरीर तो बचा, फिर हाथ शरीर कैसे? फिर पैर शरीर कैसे? फिर सिर शरीर कैसे? हाथ भी शरीर नही, पैर भी शरीर नही और सिर भी शरीर नही। तो फिर शरीर है क्या? सब को अलग-अलग तोड कर शरीर को नही देखा जा सकता। प्रत्येक अवयव जुडा हुआ है, वह शरीर है। टूट जाता है, फिर वह शरीर नही होता। हम जुडी हुई बात को देखें।

श्वास आत्मा है। श्वास का दर्शन आत्मा का दर्शन है। यह आपको अजीब-सा लग सकता है, पर है यह सचाई। क्या कोई मुर्दा श्वास लेता है? कभी नही लेता। श्वास वही लेता है जिसमे प्राण होते है। प्राण उसमे होते है जिसमे चेतना होती है। चेतना उसमे होती है जिसके आत्मा है। आत्मा के बिना चेतना नही, चेतना के बिना प्राण नही और प्राण के बिना श्वास नही। श्वास चल रहा है। उसका सचालक कौन है? उसका सचालक है आत्मा। आत्मा के निकल जाने पर श्वास भी बन्द हो जाता है। तो क्या आत्मा के द्वारा जो सचालित है, उसे देखना आत्मा को देखना नही है? निश्चित ही आत्मा को देखना है। हम केवल श्वास को नही देखते उसके साथ चलने वाली प्राणशक्ति को भी देखते है। हम केवल प्राणशक्ति को नही देखते, सचालित करने वाली चेतना को भी देखते है। हम केवल चेतना को नही देखते उसके अधिष्ठान आत्मा को भी देखते है। इस तर्क के आधार पर कहा जा

सकता है कि श्वास को देखना—आत्मा को देखना है। श्वास-दर्शन आत्म-दर्शन है। इसलिए साधना के क्रम मे जैसे आहारशुद्धि और इन्द्रियशुद्धि अपेक्षित हैं, वैसे ही श्वासशुद्धि भी बहुत आवश्यक है। जब तक श्वास की शुद्धि नही होती तब तक आत्म-दर्शन केवल कल्पना मात्र रह जाता है। मनोनुशासनम् मे आनापान शुद्धि—श्वासशुद्धि के लिए चार बातें अपेक्षित बतलाई हैं—प्राणायाम, समतलश्वास, दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग। जब श्वासशुद्धि होती है तब आत्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त होता है।

पहला साधन है प्राणायाम। इसका अर्थ है—प्राण को आयाम देना। उसको लम्बा-चौड़ा करना। प्राण सकुचित रहता है तो श्वास की शुद्धि नही होती। श्वास एक बहुत बडा तत्र है। श्वास हमारे व्यक्तित्व के दोनो पहलुओ को बलवान बनाता है, उन्हे सतुलित बनाता है। हमारा एक पहलू है आतरिक व्यक्तित्व का, दूसरा पहलू है बाह्य व्यक्तित्व का। श्वास दोनो पर शासन करता है। वह भीतरी जगत् को भी प्रभावित करता है और बाहरी जगत् को भी प्रभावित करता है। यह एक मध्य-सेतु है। जिसने श्वास का सही मूल्य नही समझा वह आगे नही बढ सकता। जो व्यक्ति मस्तिष्क का सतुलन करना चाहे और श्वास की उपेक्षा करे तो वह कभी सफल नही हो सकता। शरीर और मन का संतुलन श्वास के बिना नही हो सकता। इसलिए प्राणायाम बहुत जरूरी है।

दूसरा है दीर्घश्वास का प्रयोग। दीर्घश्वास वास्तव मे सहज श्वास होता है। आदमी श्वास को सही ढग से लेना नही जानता। श्वास तो छोटा होना ही नही चाहिये, लम्बा होना चाहिये। इसलिए दीर्घश्वास पद का चुनाव किया है। सहज श्वास का मतलब ही है पूरा श्वास, गहरा श्वास। आदमी यह जानता ही नही। सुना है मैंने कि पाठ्य पुस्तको मे यह पढाया जाता है कि जिस श्वास से छाती फूले और पेट सिकुडे, वह सही श्वास होता है। यह कैसे लिखा गया? इसका आधार क्या है? होना तो यह चाहिए कि श्वास लेते समय पेट फूलना चाहिए, छाती नही। जिस श्वास से पेट नही फूलता, वह सही श्वास नही होता। श्वास के स्पदन पेट तक पहुचने चाहिए। यह सही है कि श्वास फेफडो से आगे नही जाता। फेफडो के आगे एक मांसपेशी है—डायाफ्राम। इसे तनुपट कहा जाता है। उसके आगे श्वास जाने का रास्ता नही है। पर उसका दबाव आगे तक पहुचता है, वह नाभि तक पहुचता है। बच्चे को श्वास लेते देखे। जब वह सोता होता है, तब श्वास के साथ-साथ उसका पेट फूलता है। यही सही श्वास है, पर बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, भावनाओ और आवेशो से भरता है, वैसे-वैसे श्वास छोटा होता चला जाता है, गलत होता चला जाता है। भावनाओ का, आवेगो का, आवेशो का श्वास के साथ गहरा सबध है।

गुस्सा आता है, वह श्वास को छोटा किए बिना नही आ सकता। आवेश या आवेग उतरता है, वह श्वास को छोटा किए बिना नही उतर सकता। हमारे श्वास की सख्या एक मिनट मे सामान्यतया १५-१७ होती है। आवेश काल मे वह ३०, ४०, ५०, ६० तक बढ जाती है।

यह निश्चित नियम है कि आवेश को उतरने के लिए श्वास को छोटा होना ही पडता है। अन्यथा उसे उचित पृष्ठभूमि नही मिलती। बिना आधार के आवेश कैसे उतर सकता है ? दीर्घश्वास की स्थिति मे आवेश आ ही नही सकता। बचपन मे आदमी दीर्घश्वास या सहजश्वास लेने मे अभ्यस्त होता है परन्तु ज्यो-ज्यो वह बडा होता है, श्वास छोटा करता चला जाता है या श्वास छोटा हो जाता है। यह गलत श्वास है। सही श्वास है दीर्घश्वास। इसे लेना हम नही जानते। जो पचास-पचास वर्षो को पार कर चुके हैं, जो जज हैं, वकील है, डॉक्टर हैं वे भी सही ढग से श्वास लेना नही जानते। बडी अजीब कहानी है हमारे समाज की, हमारे विज्ञान की कि जो पाठ पहली कक्षा मे पढाया जाना चाहिए था, वह पाठ जीवन भर नही पढाया जाता, नही पढा जाता। पहला पाठ उचित रूप से नही पढा जाता, नही पढाया जाता, इसलिए बाद मे पढाये जाने वाले सारे पाठ खतरनाक बन जाते है, सताने वाले बन जाते हैं। यदि पहला पाठ ठीक ढग से पढ-पढा लिया जाता है तो आगे के सारे पाठ अधिक लाभदायक बन जाते है। तात्पर्य यह है कि जो आदमी सही ढग से श्वास लेना सीख जाता है, वह अपने जीवन मे बहुत सफल होता है, फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र मे रहे। व्यक्तित्व का निर्माता है सही श्वास और व्यक्तित्व का विघटक है गलत श्वास।

इसी परिप्रेक्ष्य मे 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' ने एक परिकल्ना की है कि आज के प्रत्येक आदमी को जीवन-विज्ञान का पाठ पढाया जाए। प्राय. सभी विद्यालयो, शोध सस्थानो, एजुकेशनल इन्स्टीटयूटो मे अनेक विषय पढाए जाते हैं। विद्यार्थी उन विषयो मे निष्णात होकर निकलते है, पर जीवन विज्ञान का बच्चा अत्यन्त उपेक्षित जीवन जी रहा है। उसे कोई यह भी नही पूछता— क्यो बच्चे ! प्यास तो नही लगी है ? कौन पिलाए उस प्यासे बच्चे को पानी ? और सबको अतिरिक्त भोजन परोसा जा रहा है, ठूस-ठूस कर खिलाया जा रहा है पर इस भूखे-प्यासे बच्चे की ओर आख उठाकर देखने के लिए भी किसी के पास समय नही है। बच्चा अत्यन्त उपेक्षित, उपेक्षित और उपेक्षित है।

जो आदमी जीवन-विज्ञान को नही पढता, उसमे निष्णात नही होता वह समस्याओ से कभी मुक्ति नही पा सकता। फिर स्थिति आती है कि वह दूसरे के अधिकारो को, सपत्ति को हडपने की चेष्टा करता है। और-और अनेक बुराइया उसमे आती है।

एक डॉक्टर जा रहा था। एक युवक दौडा-दौडा आया और बोला— धन्यवाद डॉक्टर साहब, आपने मेरी भाभी का सफल इलाज किया, उसके लिए धन्यवाद देने के लिए आ गया। डॉक्टर ने पूछा— तुम्हारी भाभी एकदम स्वस्थ हो गई ?

युवक बोला – हा, डॉक्टर साहब ! वह समस्त रोगो से मुक्त हो गई। रोगो से ही नही इस ससार से मुक्त हो गई।

डॉक्टर बोला— फिर धन्यवाद कैसे ?

डॉक्टर साहब ! उसका वारिस मैं हू। उसकी सारी सपत्ति मुझे मिल गई। अच्छा इलाज किया आपने कि वह जल्दी चल बसी। अन्यथा उसकी सपत्ति को पाने के लिए मुझे दो-चार वर्ष और रुकना पडता। आपने बडा उपकार किया। धन्यवाद।

जो व्यक्ति जीवन-विज्ञान का पाठ नही पढता, वह ऐसा ही करता है।

तीसरा साधन है —समताल श्वास। समताल श्वास का अर्थ है— श्वास लेने मे जितना समय लगे, छोडने मे भी उतना ही समय लगना चाहिए, कम या ज्यादा नही। इसका अभ्यास भी बहुत अपेक्षित है।

चौथा साधन है—कायोत्सर्ग—शिथिलीकरण। कायोत्सर्ग के दो अर्थ है— काया को शिथिल करना और चेतना के प्रति जागृत रहना। आज का आदमी आवेशो के कारण बहुत तनावग्रस्त है। वह शिथिल होना नही जानता, छोडना नही जानता। वह कसना जानता है, ढीला होना नही। यह कसने की सबसे बडी समस्या है। एक बात दिमाग मे आ गई, फिर वह जीवनभर नही निकलती। एक घटना घटित हो गई, वह मन से निकलती नही। किसी ने कुछ कह दिया, दिमाग मे उसकी गाठ घुल जाती है। दिमाग तनावो मे भर जाता है। प्रत्येक क्रिया उसमे तनाव पैदा करती है, प्रत्येक घटना तनाव पैदा करती है। घटना न घटे, यह कभी सम्भव नही। घटना घटती है। पर जो व्यक्ति श्वासशुद्धि की प्रक्रिया को जानता है, वह घटना से बधता नही। घटना घटी, उसे जाना। बात समाप्त। उसका सघन सस्कार नही होता। पानी पर खीची हुई लकीर या बालू रेत मे खीची हुई लकीर का सस्कार सघन नही होता। लकीर खीची और समाप्त। वह अधिक समय तक नही टिकती। पानी की लकीर तत्काल मिट जाती है। बालू की लकीर कुछ समय तक टिकती है। हवा चलते ही समाप्त हो जाती है। किंतु जब वह विचार या घटना पत्थर की लकीर बन जाती है, तब भगवान् ही बचाए। आज की प्रत्येक घटना आदमी के दिमाग मे पत्थर की लकीर बनती जा रही है।

तनाव की समस्या से बचने के लिए कायोत्सर्ग ही एकमात्र उपाय

है। इसका मतलब है—शिथिल बनो, ढीले बनो, इतने शिथिल की कही भी पत्थर की लकीर बने ही नही। पत्थर की लकीर बनने का मौका ही न मिले। कोई लकीर बने तो वह केवल बालू की लकीर या पानी की लकीर बने। लकीर बनी और समाप्त हो गई। बनने और समाप्त होने मे समय न लगे। एक साथ हो। कायोत्सर्ग करते समय श्वास अपने आप शुद्ध और मन्द हो जाता है।

श्वास को शुद्ध और मन्द करने का चौथा साधन है—कायोत्सर्ग। प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास मे इन सभी साधनो का प्रयोग होता है। जैसे-जैसे श्वास की शुद्धि होती है, वह पवित्र और निर्मल होता चला जाता है और हमारा आत्म-दर्शन का स्फटिक पारदर्शी होता चला जाता है। एक दिन ऐसा आता है कि एक ओर खडे हो तुम, एक ओर है यह पारदर्शी आत्मा और उसके पीछे झाक रही हैं तुम्हारी आखे।

शारीरिक अनुशासन के सूत्र

एक साधक ने कहा—मैंने सुना है, शरीर अनित्य है, अशुचि है और अशुचि से उत्पन्न है। एक वार नही, अनेक वार मैंने सुना है। यहा मैं साधना के लिए आया। मुझे कहा गया—शरीर को देखो। वार-वार कहा गया, शरीर को देखो। मैं असमंजस मे पड गया। जो अशुचि है, अनित्य है, नश्वर है, विजातीय है, गन्दा है, हाड-मांस का पुतला है, उसको देखने का अर्थ ही क्या हो सकता है? साधना करनी है। किसी वडी चीज को देखना है। आत्मा-परमात्मा को देखना है। शरीर को देखने का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? कोई प्रयोजन नही है। दूसरी वात है, यह शरीर मिला है सुख-सुविधा का उपभोग करने के लिए। आराम से रहे, ठडी हवा मे रहें, ठंडा पीए, गरम खाए, सारी सुविधाओ को भोगे—यह है शरीर का प्रयोजन। शरीर भोग का साधन है। यह भोग करने के लिए मिला है। हम वेचारे को क्यो सताए? ध्यान मे एक आसन पर बैठना होता है। सारा शरीर दुखने लग जाता है। पैर दर्द करने लग जाते है। शरीर पसीना-पसीना हो जाता है। यह शरीर को सताना है, कष्ट देना है।

प्रश्न बहुत हो सकते हैं, किन्तु यदि हम इन प्रश्नो मे उलझते चले जाए तो प्रश्न भी अनन्त होता चलेगा और उत्तर भी अनन्त होता चलेगा। समाधान कभी नही होगा। उलझना नही है। हम इस वात को स्वीकार कर ले कि शरीर अशुचि है, अपवित्र है, नश्वर है, अनित्य है और यह भी मान लें कि आदमी उसे सताता है। स्थूल बुद्धि से कही हुई वात स्थूल बुद्धि से स्वीकार कर लेनी चाहिए। कहने वाला जव अपनी स्थूल बुद्धि से कहता है तो उत्तरदाता को भी स्थूल वुद्धि का प्रयोग करना चाहिए, जिससे कि कहने वाला भडके नही।

मैंने प्रश्नकर्त्ता के दोनो तर्क स्वीकार कर लिए। मैंने कहा—शरीर अशुचि है, यह तुमने सुना और सुनाने वाले ने सुनाया। दोनो सही हैं। सुनने वाला भी गलत नही है और सुनाने वाला भी गलत नही है। हम मानते हैं, हर आदमी जन्म लेता है और मर जाता है। वह अनित्य है। हम जानते हैं, शरीर मे से अशुचि पदार्थ निकलते हैं। यदि शरीर को साफ न किया जाए तो कोई पास मे आकर बैठना भी नही चाहेगा क्योकि भयंकर दुर्गंध उसमे से निकलने लग जाएगी। पसीने से वदबू आती है। मल-मूत्र से वदबू आती है। वहुत ही अपवित्र है शरीर। यह तो प्रकृति की अच्छी देन है

कि हमारी देखने, सुनने और सूघने की शक्ति सीमित है, सीमा मे आबद्ध है। एक निश्चित आवृति पर ही हमारी ज्ञानेन्द्रियां काम करती हैं। यदि इन्द्रिया सीमा से परे का काम करने लग जाए, तो आदमी अपने स्वय के शरीर के पास भी नही रह सकेगा। वह इन्द्रियो के विषयो से इतना तनावग्रस्त हो जाएगा कि कुछ ही क्षणो मे वह पागल बन जाएगा। प्रकृति की कोई ऐसी व्यवस्था है कि मनुष्य का ज्ञान तो बहुत विशाल है, परन्तु इन्द्रिया इस ज्ञान मे से थोडे से ज्ञान को स्वीकार करती है। यदि कान सारे शब्द को सुनने लग जाए तो आदमी एक ही दिन मे पागल हो जाएगा। यदि आखे सारी वस्तुओ को देखने लग जाएं तो आदमी सो नही पाएगा, पागल बन जाएगा। यदि घ्राण सब कुछ सूघने लग जाए तो एक क्षण के लिए भी आदमी प्रसन्न नही रह सकेगा। उसका जी मिचलाता ही रहेगा, वमन होता रहेगा। गध आती रहेगी। प्रत्येक इन्द्रिय की व्यवस्था कर ली कि वह निश्चित आवृत्ति या फ्रीक्वेन्सी पर ही अपना कार्य करेगी। यह बहुत अच्छी बात हो गई। अन्यथा आदमी के लिए जीना दूभर हो जाता। वह तब कुछ भी नही सुन पाता, कुछ भी नही देख पाता और कुछ भी नही सूघ पाता। वह इन विषयो से निरन्तर आक्रात रहता और पागल बन जाता। हमारे स्वय के शरीर से इतनी बदबू निकलती है कि यदि नाक उसको ग्रहण करने लग जाए तो आदमी सहन ही नही कर पाएगा। पर यह नाक की अपनी सीमा है कि वह सारी गंध मे अमुक-अमुक गध ही स्वीकार कर पाता है, इसलिए आदमी जी रहा है।

एक बार वैज्ञानिक ने साउड-प्रूफ मकान बनाया। उसमे बाहर की आवाज भीतर प्रवेश नही करती और अन्दर की आवाज बाहर नही जाती। कुछ वैज्ञानिक प्रयोग के लिए उस मकान के भीतर बैठे। मशीन की-सी आवाजें आने लगी। उन्हे आश्चर्य हुआ कि ये आवाजे कहा से आ रही है? शब्द निरोधक मकान मे बाहर से आवाजे कैसे आ सकती हैं? सोचने पर ज्ञात हुआ कि बाहर से कुछ भी नही आ रहा है, शरीर के भीतर जो एक विशाल फैक्ट्री चल रही है, सारी उसकी आवाजे है। रक्त चल रहा है धमनिया कार्यरत है, सारा नाडी तन्त्र सक्रिय है—ये सब आवाजे उनकी हैं।

जब बाहर की आवाज होती है तब भीतर की आवाजे नही सुनाई देती। जब बाहर की खटखटाहट बन्द होती है तब पता चलता है कि भीतर मे कितनी आवाजे हो रही है। जब व्यक्ति ध्यान की गहराई मे आता है, शरीर-प्रेक्षा मे एकाग्र होता है तब उसे ज्ञात होता है कि शरीर मे कहां-कैसे स्पन्दन हो रहे है। पहले पता ही नही चलता। हमारे शरीर की ऐसी व्यवस्था है, तभी आदमी जीवन जी पाता है।

मै इस बात से इन्कार नही करता कि शरीर अपवित्र है, अशुचि है

और इस वात को भी स्वीकार करता हू कि ध्यान की विविध प्रक्रियाओ मे शरीर को कष्ट होता है। सात वजे उठने वाले लोग चार वजे उठते हैं, यह शरीर को कष्ट ही है। एक भाई ने कहा—मैं इसे कष्ट नही मानता। जागना कष्ट नही है, आनन्द है। मैं सात वजे उठता था। अव चार वजे उठता हूं। तीन घटा अधिक जागता हू। जागने का लाभ प्रत्यक्ष है।

शिविर मे प्रतिदिन चार वार एक-एक घटा का ध्यान कराया जाता है। यह वहुत अधिक है। शरीर इतना अभ्यस्त नही है कि इसको सहन कर सके। प्रारम्भ मे कम होना चाहिए।

मैने कहा—न हो तो और अच्छा है। जरूरत ही क्या है? इससे अच्छा है नही होना। हम उतना ही करवाते हैं, जितना आवश्यक लगता है। यदि इतना न हो तो यथेष्ट परिणाम नही आ सकते। इतना नही किया जाता तो फिर न करना ही अच्छा है।

उसने कहा—आसन किए जाते है। शरीर दुखने लगता है। कमर मे दर्द हो जाता है। पैर दुखने लगते है। मासपेशियो मे दर्द उभर आता है। तो क्या आसन करना शरीर को सताना नही है? मै वोला—आसन मे दर्द नही होता। आसन मे विकृति के साथ छेडछाड होती है। स्नायुओ को वैसा अभ्यास नही है। अभ्यास करने का अर्थ है, उनसे छेडछाड करना। छेडछाड प्रतिक्रिया पैदा करता है। कोई छेड़छाड करे, और सामने वाला प्रतिक्रिया न करे तो फिर शरीर वीतराग हो जाएगा। तुम छेडछाड करो और शरीर प्रतिक्रिया न करे, यह कैसे सभव हो सकता है? रोग है। दवा मत ले। कोई प्रतिक्रिया नही होगी। रोग पडा रहेगा। जैसे ही रोग के साथ छेडछाड की, वहा रिएक्शन होगा। प्रतिक्रिया होगी। भयकर प्रतिक्रियाए होती है। इसे शरीर को सताना माना जाता है। स्थूल दृष्टि से यह सही लगता है। आदमी हमेशा स्थूल को ही पकडता है। गहराई तक वह नही जाता।

मालिक ने झुझलाकर अपने नौकर से कहा—तुम वडे गधे हो। नौकर ने हाथ जोडकर कहा—मालिक! वडे तो आप है, मैं तो छोटा हू।

नौकर वात को पकड नही सका। स्थूल वुद्धि वाला स्थूल वात को पकड सकता है। वह गहराई तक नही जा सकता। वह यह समझ ही नही पाता है कि क्या कहा जा रहा है और मै क्या कह रहा हूं। हमेशा यही स्थिति वनती है।

मैंने आगे कहा—मित्र! गहराई मे पैठने का प्रयास करो। तुम कहते हो, शरीर सताया जा रहा है। इस भाषा को वदल दो। अर्थ को समझो, भाषा वदल जाएगी। शरीर सताया नही जा रहा है, साधा जा रहा है। शरीर को सताना एक वात है और शरीर को साधना दूसरी वात है। यह सताना

नही है, शुद्धिकरण है। यह कायशुद्धि है, शरीर की शुद्धि है। जब तक शरीर की शुद्धि नही होगी, शरीर मे जमे हुए मलो को दूर नही किया जाएगा तब तक प्रकाश नही होगा। यदि प्रकाश करना है तो मलो को साफ करना होगा। यदि आलोक करना है तो धुधलापन मिटाना होगा। काच जब धुधला हो जाता है तब वह प्रतिबिम्ब को पकड नही सकता। काच प्रतिबिम्ब को प्रकट करता है। पर यदि मैला है, तो प्रतिबिम्ब प्रकट नही होगा। क्या अन्धे काच से लालटेन का प्रकाश बाहर आ पाएगा ? कभी नही। काच को साफ करना ही होगा। सफाई करने मे कष्ट होता होगा पर सफाई का उद्देश्य कष्ट देना नही होता। कष्ट देना और कष्ट होना, दो भिन्न-भिन्न बाते हैं। ये दोनो एक नही है।

काया को साधने मे कष्ट हो सकता है, पर हमारा उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नही है। कष्ट देने का उद्देश्य हो ही कैसे सकता है ? साधना का और धर्म का एकमात्र उद्देश्य है—दु ख-मुक्ति, सभी दु खो से छुटकारा पाना। तो क्या जो दु ख से छुटकारा दिलाता है, वह दु ख देने वाला हो सकता है ? दु ख से दु ख ही मिलता है। दु ख से सुख नही मिलता। जिसका लक्ष्य है दु ख पाना और जो दु ख पाने के उद्देश्य से अपने आपको दु खी बनाता है, वह सदा दु खी ही बना रहेगा। भगवान् महावीर ने कहा—'दु खी दु ख को प्राप्त होता है। सुखी कभी दु ख को प्राप्त नही होता।' हम इस तथ्य को और गहरे उतरकर समझे। काया को साधने के लिए उसे तपाना पडता है। खदान से सोना निकलता है। पर सोने की ईंटे उससे सीधी प्राप्त नही होती। कितनी तेज आच मे से उस सोने के पत्थर को गुजरना होता है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। यह इतनी तेज आच सहता है, इसीलिए मिट्टी मे से चमकता हुआ पीला सोना बाहर निकल आता है। यदि सोना कहे—मुझे सताओ मत। मुझे जलाओ मत। क्या वह कभी सोना बन पाएगा ? वह मिट्टी ही बना रहेगा। यदि सोने को सोना बनना है, सोने के रूप मे, चमकते पीले रूप मे उसे प्रकट होना है तो तेज आच से गुजरना ही होगा। सोने को तेज आच से गुजरने का अर्थ उसको सताना नही है। सारा प्रयत्न उसको चमकाने के लिए होता है। उद्देश्य भिन्न है। एक उद्देश्य होता है चमकाने का और एक उद्देश्य होता है, सताने का। गुरु अपने शिष्य को प्रताडना देता है, उसे मिटाने के लिए नही, किंतु उसे चमकाने के लिए। मिटाने का उद्देश्य होता है वहा सताना होता है और जहा चमकाने का उद्देश्य होता है वहा सिद्ध करना होता है।

आसन इसलिए किए जाते है कि शरीर मे जमे हुए मैल निकल जाएं, शरीर सिद्ध हो जाए, शरीर साध लिया जाए।

कुछेक लोग कहते हैं कि श्वास फेफडो मे पूरा पहुचता ही नही। कैसे

पहुचे ? बीच मे कितने अवरोध पैदा कर रखे हैं ? इतने मल और दोष जमा हैं कि श्वास को आगे जाने का अवकाश ही नही मिल पाता। यदि किसी वैद्य को चिकित्सा करनी पडे तो कई दिनो तक विरेचन देना पड़े, तब पेट की सफाई हो सकती है, जमे हुए मैल निकल जाते है। फेफडे, पेट. नाड़ी-सस्थान साफ भी हो जाएं, अवरोध मिट जाए तो भी साधक की दृष्टि से इतना पर्याप्त नही है। साधक को और अधिक सफाई करनी होगी। चिकित्सा की दृष्टि मे मल साफ हो गया, शरीर स्वस्थ हो गया, किन्तु एक साधक उससे आगे की बात सोचता है। वह शरीरावरोधक मल को ही साफ नही करता, चेतना के क्षेत्र मे अवरोध उत्पन्न करने वाले मलो को भी साफ करता है। उन मलो की सफाई के लिए भारी मात्रा मे विरेचन अपेक्षित होता है। इस विरेचन मे और शारीरिक शुद्धि के लिए प्रयुक्त विरेचन मे अन्तर होता है। यह विरेचन है—आसन, प्राणायाम, व्यायाम आदि।

कायशुद्धि के पाच उपाय है—कायोत्सर्ग, आसन, बध, व्यायाम और प्राणायाम। ये पाचो शरीर की प्रवृत्ति से जमने वाले मलो को साफ करते है। किन्तु शरीर मे कोरा शरीर प्रवृत्ति का ही मल नही जमता। उसमे मल जमता है—भावना, आसक्ति और अन्त करण के द्वारा। सस्कारो का मल भी जमता है। आज परीक्षण किए जा चुके है कि विचारो के विष हमारे नाखूनो और शरीर के विभिन्न अवयवो मे जमा होते हैं। वे अन्यान्य विरेचन या कायोत्सर्गादि उपायो से साफ नही किये जा सकते। कोई भी डाक्टर या वैद्य भी इनकी धुलाई नही कर सकता। इनकी धुलाई होती है - निस्सगता के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा और विचारो के स्नेहीकरण के द्वारा। कायशुद्धि का यह छठा उपाय है।

जहा शरीर मे इतनी गन्दगी भरी पडी है, वहा उसको शुद्ध किये विना, शरीर को साधे विना, क्या हमारा लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? क्या हम चैतन्य विकास की दिशा मे आगे बढ सकेगे ? कभी सभव नही है।

स्वास्थ्य का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—रीढ का लचीला होना। जिसकी पृष्ठरज्जु लचीला नही होती वह न शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता है और न मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। आज के व्यक्तियो की रीढ लचीली नही है और हो भी कैसे सकती है ? बेचारी को भोजन भी नही मिलता। यदि पेट को पूरा भोजन नही मिलता है तो पेट लडाकू है, वह अपना सामान जुटा लेता है। जो चुप रहता है। वह उपेक्षित होता है। संभव है इसलिए लडाकूवृत्ति का विकास हुआ। विना लडे काम नही चलेगा। लड़ो, लडो और लड़ते रहो। कुछ लोगो का यह विचार भी है कि दुनिया का नियम है—सघर्ष, लडाई। इसीलिए सामाजिक चेतना के क्षेत्र मे काम करने वाले लोगो ने कहा—सघर्ष हमारे जीवन का नियम है। अनेक समाज-

शास्त्रियो ने, विकासवादियो ने और द्रुतसचारवादियो ने भी इसी का समर्थन किया। सचमुच उन्होने सचाई का उद्घाटन किया। दुनिया की प्रकृति है कि बिना लडे काम नही चलता। इसीलिए यह कहावत भी प्रचलित हो गई —'बिना रोए मा भी स्तनपान नही कराती।' जब बच्चा रोता है, तभी मा उस ओर ध्यान देती है। बच्चा शात सोया रहे तो मा का ध्यान उस ओर जाता ही नही।

लडने की बात अनिवार्य हो गई। पेट लडाकू है। पाचन-सस्थान लडाकू है, आते लडाकू है। एक ही उपवास मे दिन के तारे दिखने लग जाते है। बडी कठिनाइया पैदा हो जाती है। किन्तु हृदय, गुर्दे, मस्तिष्क, रीढ की हड्डी—ये आक्रामक नही है, लडाकू नही है। इन पर हम ध्यान ही नही देते। इसीलिए अनेक मल जमा होते चले जाते हैं। हमारे शरीर मे रीढ की हड्डी का बहुत महत्त्व है। सारे स्नायु इसमे से गुजरते हैं, चाहे वे स्नायु ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर जाते हो, ये सब इसमे से गुजरते है। यह एक ऐसा मार्ग है जो सबको नियन्त्रित करता है। जो व्यक्ति रीढ की हड्डी को नही साध लेता वह साधना के क्षेत्र मे बहुत सफल नही हो सकता। जिसकी रीढ की हड्डी लचीली नही है वह मानसिक दृष्टि से अधिक विकसित नही हो सकता और शारीरिक दृष्टि से भी वह स्वस्थ नही हो सकता। अकडन होना, दर्द होना आदि सब इसी के परिणाम है। इसीलिए एक कुशल डाक्टर सबसे पहले इस बात को देखता है कि रीढ की हड्डी कैसी है ?

आज एक चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है, इसका नाम है 'ऑस्टिओपेथी।' उसमे रीढ की हड्डी के आधार पर पूरे शरीर की चिकित्सा की जाती है। देखा जाता है कि रीढ की हड्डी मे कहा खराबी है ? क्या आदमी ने कभी रीढ की हड्डी को लचीला बनाने का प्रयास किया है ? क्या कभी वह उसे पोषण देता है ? कभी नही। इस ओर उसका ध्यान ही नही जाता।

रीढ की हड्डी को लचीला करने का उपाय है—आसन। आसन के द्वारा उसको रक्त मिलता है। आसन के द्वारा उसको मालिश मिलती है। ये दोनो उसे लचीली बनाते है। हलासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन आदि आसनो के द्वारा रीढ की हड्डी को पूरा रक्त मिल जाता है और उसकी अच्छी मालिश हो जाती है। वह लचीली होती है। उसकी शक्ति बढती है। रीढ की हड्डी लचीली होती है तो मन भी लचीला होता है और शरीर लचीला होता है। किन्तु आदमी इन उपायो को काम मे नही लेता। दवाई मे जितना विश्वास है, उतना विश्वास इन आसनो मे नही है। यही कारण है कि वह सदा बीमार ही बना रहता है।

यह प्रज्ञा-प्रदीप ध्यान-साधना का केन्द्र है। दूसरे शब्दो मे कहू तो यह आदमी के विभिन्न दर्दों के प्रकट होने का केन्द्र है। आदमी विभिन्न

प्रकार के दोषों का भण्डार है। वह यहां आता है। साधना करता है। दोष उभरते हैं, उखड़ते हैं। शरीर में अनेक स्थानों पर दोष दर्दरूप में प्रकट होते हैं।

एक अनुभवी संन्यासी था। उसके पास एक शिष्य आया। शिष्य ने संन्यासी की सेवा की। संन्यासी ने प्रसन्न होकर कहा—लो, यह तेल देता हूं। यह चमत्कारी तेल है। इसे शरीर में चुपड़ लेना। शरीर सिद्ध हो जाएगा। संन्यासी चला गया। उसने शरीर पर तेल चुपड़ लिया। भक्त लोग आते हैं और शिष्य के शरीर को देखकर दूर से ही भाग जाते हैं। एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते। उसने सोचा, यह क्या हो गया ? सैकड़ों भक्त आते, बैठते, प्रवचन सुनते, अब दूर से ही भाग जाते हैं। यह क्यों ? वह अपने गुरु के पास गया और बोला—गुरुदेव ! यह कैसे परिवर्तन आ गया भक्तजनों में ? कोई पास आता ही नहीं। गुरु ने कहा—इन दिनों तुमने कोई प्रयोग किया था ? शिष्य बोला—कोई प्रयोग नहीं किया। एक संन्यासी आया था। उसने तेल दिया था। मैंने उसको शरीर पर चुपड़ लिया था। बस, इतना ही किया था। गुरु ने उसका शरीर सूंघा और सूंघकर कहा—अरे गजब कर दिया तुमने ! वह सुदर्शन तेल था। उसको लगाने से शरीर पारदर्शी हो जाता है और मन का प्रतिबिम्ब उसमें निखर आता है। तेरा मन अभी सधा नहीं है। उसमें अनेक दोष हैं। वह विकृत है, गन्दा है। इतने दिन तक वह ढंका पड़ा था। कोई उसे जान नहीं पाता था। इस तेल के प्रभाव से तेरा अन्तःकरण शरीर में प्रतिबिम्बित हो गया। भक्त आता है। देखता है और सोचता है—जिन्हें हम प्रणाम करते हैं, भगवान् मानते हैं, विरक्त मानते हैं, वे हृदय से इतने गंदे हैं, मन से इतने विकृत हैं, तो हम इन्हें कैसे प्रणाम करें ? कैसे इनकी भक्ति करें। वे देखते ही भाग जाते हैं। शिष्य ! इसे उतारो। तुम्हारे लिए तो तिलों का या सरसों का तेल ही लाभदायक है।

यह सुदर्शन तेल की कथा है। प्रज्ञा-प्रदीप भी सुदर्शन तेल का काम कर रहा है। जो लोग यहां साधना करने आते हैं, उनके दोष प्रकट होते हैं। भीतर में जो कुछ एकत्रित कर रखा है, वह बाहर आता है। जब दोष बाहर निकलना चाहते हैं, तब आदमी घबरा जाता है। वह शिकायतों से भर जाता है। वह कहता है—मैं साधना करने यहां आया था, परन्तु पैरों का दर्द बढ़ गया। कमर में दर्द हो गया। गर्दन दुखने लगी। पेट भी ठीक नहीं है। मैं समझता हूं, प्रगट होना अच्छा है। दोषों का अपनयन लाभदायक है। इससे शरीर सधता है। काय-सिद्धि का यही उपाय है।

साधनाकाल में जो कुछ किया जाता है वह शरीर को सताने के लिए नहीं, किन्तु शरीर को साधने के लिए किया जाता है। शरीर को साधने में

कष्ट अवश्य ही होता है, पर साधना का प्रयोजन कष्ट पहुंचाना नही है। आदमी बीमार होता है। वह दवाई लेता है। क्या दवा लेना कष्टकर नही होता ? बहुत कष्टदायी होता है। इन्जेक्शन लग गया आधे मिनट मे, पर उसका दर्द पाच दिन तक भी नही मिटता। दर्द होता है, ज्वर आ जाता है और कभी-कभी पक जाता है। ऐसी स्थिति मे उस रोगी को भयकर कष्ट से गुजरना होता है। इन्जेक्शन सताता है, परन्तु क्या इजेक्शन शरीर को सताने के लिए दिया जाता है ? नही। उसका उद्देश्य सताना नही है, रोग मिटाना है। क्या ऑपरेशन शरीर को सताने के लिए किए जाते हैं ? नही। शरीर को कष्ट अवश्य ही होता है, पर ऑपरेशन का उद्देश्य सताना नही हो सकता। जहा बीमारी को, दोष को मिटाने की बात प्राप्त है वहा कष्ट की बात भी प्रसगोपात है, उसे अलग-थलग नही किया जा सकता।

मैं उस भाई की बात को स्वीकार करता हू। फिर शरीर की सिद्धि मे शरीर को सताने की बात आ सकती है, किन्तु सताने के लिए नही सताया जा रहा है, अपितु बीमारी को मिटाने के लिए या शरीर को साधने के लिए किया जा रहा है, कष्ट भी हो सकता है और सताने जैसी भाषा भी हो सकती है। कायसिद्धि मे आसन, प्राणायाम, वध आदि सारे उपाय उपादेय हैं। किन्तु इन सब मे महत्त्वपूर्ण है, निस्सगता का प्रयोग।

शरीर भानुमती का पिटारा है। यदि कोई आदमी अपना पूरा जीवन लगा दे फिर भी वह पूरे शरीर को नही समझ पाता। बहुत पेचीदा है शरीर तत्र। शरीर पर चमडी दिखाई देती है। कोरा रग और रूप दिखाई देता है। चमडी इतनी ही नही है। इसकी रचना को देखे। इसके एक वर्ग सेंटी-मीटर मे दो लाख कोशिकाए हैं। हमारी चमडी मे पसीना निकालने वाली दो लाख ग्रन्थिया हैं। चमडी का पूरा विवरण पढने पर लगता है कि चमडी का यह कारखाना बहुत विशाल और पेचीदा है। मैं कोरी चमडी के विषय की बात कर रहा हू। बहुत लम्बी-चर्चा है।

शरीर को साधने के लिए निस्सगता—अनासक्ति बहुत जरूरी है। आसक्ति के द्वारा शरीर मे अनेक दोष आते हैं। जब-जब हमारे मन मे मूर्च्छा के भाव जागते है, आसक्ति जागती है तब शरीर का कण-कण मल से भर जाता है। बडी दयनीय स्थिति बन जाती है। आदमी समझ ही नही पाता। वह मल अनासक्ति के द्वारा ही घुलता है।

शरीर-प्रेक्षा, कायोत्सर्ग, निस्सगता—ये सारे प्रयोग चेतना के प्रति जागने के प्रयोग हैं। ध्यान का अर्थ शून्यता नही है। ध्यान का अर्थ होता है चेतना के प्रति जागना और फिर उसका साक्षात्कार करना। ध्यान के दो अंग हैं—जागना और फिर उसका साक्षात्कार करना। पहले जागना होता

है । और जैसे-जैसे जागृति का अभ्यास बढता है, वह परिपक्व होता है तव साक्षात्कार की वात आती है । श्वास का साक्षात्कार, शरीर का साक्षात्कार, शरीर के अवयवो का साक्षात्कार और होते-होते एक दिन आता है कि चेतना का साक्षात्कार हो जाता है ।

उस भाई का तर्क ठीक है कि शरीर गन्दा है । वह वाहर के पदार्थो से भी गन्दा है और आसक्ति के द्वारा जमने वाले मलो से भी गन्दा वनता है। उस गन्दगी को साफ करने के लिए शरीर-प्रेक्षा वहुत वडा साधन है । हम यह नही कह सकते है कि शरीर गन्दा ही है या शरीर गन्दा नही है । शरीर गन्दा है, यह भी सच है और शरीर शुद्ध है, यह भी सच है । यदि शरीर कोरा गन्दा होता तो प्रेक्षा-ध्यान मे शरीर को देखने की वात नही होती । शरीर गन्दा न हो तो उसकी सफाई की वात भी प्राप्त नही होती । दोनो कथन सापेक्ष है ।

गुरु जा रहे थे । साथ मे दस-वीस शिष्य थे । गुरु को प्यास लगी । शिष्य दौड़ा-दौडा गया । पानी भर लाया । गुरु ने देखा, कहा, अरे, इतना गन्दा पानी ! शिष्य वोला—ठहरे, दस-मिनट वाद साफ पानी ले आऊगा । दस मिनट वीते । साफ पानी ले आए । गुरु बोले—अरे, पहले इतना गन्दा पानी और अव इतना साफ पानी ! शिष्य वोला—महाराज ! नदी से पहले गाडियो का समूह गुजरा था । पानी गुदला गया था । अव वह पानी धीरे-धीरे साफ हुआ है, नितर गया है । सारा मल नीचे जम गया है । गुरु ने कहा—हमारी भी यही स्थिति है । जव आसक्ति की गाडिया गुजरती है तव चेतना गन्दी हो जाती है । जव आसक्ति मिटती है तब चेतना शुद्ध हो जाती है, निर्मल हो जाती है । चेतना ही निर्मल नही होती, साथ-साथ शरीर भी निर्मल होता है ।

दो दृष्टिकोण है, एक है शरीर को सताना और दूसरा है शरीर को साधना । एक है शरीर का गन्दा होना और एक है शरीर का निर्मल होना । यदि हमारा दृष्टिकोण वदल जाए, चश्मा वदल जाए तो फिर गन्दे शरीर को छोड़कर पवित्र चेतना की दिशा मे प्रस्थान हो सकता है । यदि दृष्टिकोण वदल जाए तो शरीर को सताने की वात छोडकर, काया को साधने की दिशा मे प्रस्थान हो सकता है । यह है हमारी कायसिद्धि का उपाय और प्रयोजन ।

वाचिक अनुशासन के सूत्र

दर्शन के एक विद्यार्थी ने पूछा—हमारे जगत् मे सबसे ज्यादा मूल्यवान् क्या है ? क्या चेतना का मूल्य सबसे अधिक नही है ? मैं समझता हू उसका मूल्य सबसे अधिक है, क्योकि सारे मूल्य उसी के द्वारा प्रस्थापित होते है। चेतना का जगत् है, इसलिए मूल्य हैं सारे। यदि चेतना न हो तो कोई मूल्य हो नही सकता।

मैं दो क्षण मौन रहा। उसकी वाक् से सहमत होने मे भी मुझे कठिनाई का अनुभव हो रहा था और असहमत होने मे भी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। कभी-कभी ऐसे प्रश्न सामने आते हैं कि उनको स्वीकार करना भी कठिन होता है और अस्वीकार करना भी कठिन होता है। मैंने कहा—मै तुम्हारी प्रस्तावना से पूर्णरूपेण सहमत भी नही हू और असहमत भी नही हू। इसमे कोई सदेह नही है कि चेतना बहुत मूल्यावान् है। हम सारे मूल्यो की चर्चा चेतना के आधार पर ही करते है। जड जगत् मे मूल्यो की चर्चा कभी नही होती। जानते ही नही, मूल्यो की क्या चर्चा करेंगे ? मूल्यो का ज्ञान ही नही है तो उनकी चर्चा कैसे होगी ? अवचेतन जगत् मे किसी मूल्य की प्रस्थापना नही होती, मूल्यो का कोई सिद्धात नही होता, मूल्यो की कोई चर्चा नही होती। ये सारे सिद्धात बनते हैं चेतना के जगत् मे। इसलिए चेतना को सर्वोपरि मूल्य दिया जाए, यह तर्क-सगत है। किन्तु सर्वांगीण दृष्टिकोण से देखने पर लगेगा कि यह वात तर्क-सगत होते हुए भी त्रुटिपूर्ण हैं। चेतना मूक होती है। उसके पास वाणी नही होती। चेतना अपने तक सीमित है। उसका विस्तार नही होता। चेतना का सारा जगत् छोटा है। उसमे विस्तार नही है। दुनिया का सारा विस्तार वाणी के माध्यम से हुआ है। यदि वाणी न हो तो हमारी दुनिया सिमट जाए। यदि भापा न हो, शव्द न हो तो विस्तार की वात ही नही हो सकती। दुनिया सिमट जाती है। फिर कोरा व्यक्ति वचेगा, समाज नही वनेगा, सवध नही वनेगा। समाज का विस्तार और सवधो का विस्तार वाणी के माध्यम से होता है। इसलिए मै मानता हू कि हमारी दुनिया मे सबसे अधिक मूल्यवान् है वाणी। समूची दुनिया वाणी के द्वारा निर्मित है।

कुछेक दार्शनिको ने यह प्रस्थापना की कि ससार शव्द से उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ मे शव्द पैदा हुआ और शव्द से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ। मुझे लगता है कि यह कथन वास्तविकता पर आधारित है।

सृष्टि का विस्तार वाक् से होता है, वाणी से होता है। यदि वाणी नही होती तो एक आदमी किसी दूसरे आदमी के साथ सम्वन्ध स्थापित नही कर पाता। कोई माध्यम ही नही बनता। न स्मृति होती, न कल्पना होती और न चिन्तन होता। ज्ञान के तीन पहलू है—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। ये तीनो वाणी के आश्रित हैं। मन और वाणी को अलग करना समझ मे नही आता। क्या वास्तव मे मन और वाणी दो हैं ? जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर बहुत गहराई से विचार किया है। उन्होने कहा—एक स्थिति मे मन और भाषा दो नही रहते, एक बन जाते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी भाषा में सोचते हैं कि मन और भाषा को सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता। मन का काम है—स्मृति करना, कल्पना करना, चिन्तन करना, मनन करना। क्या कोई ऐसी स्मृति है जिसमे भाषा का साथ न हो ? क्या कोई ऐसी कल्पना होती है जिसमे भाषा और शब्द न हो ? क्या कोई ऐसा चिन्तन होता है जिसमे भाषा या शब्द का उपयोग न हो ? भाषा से गुप्त कोई स्मृति नही हो सकती। भाषा से गुप्त कोई कल्पना नही हो सकती। भाषा से गुप्त कोई चिन्तन नही हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन तीनो के लिए शब्द चाहिए। विना शब्द के वे लंगड़े है, चल ही नही सकते। तो फिर मन और वाणी या भाषा या शब्द को अलग करने की सीमा कहा है ? मुझे लगता है कि यह बात हमे सीमा का बोध करायेगा कि भाषा को मूक मन कहा जा सकता है और मन को मुखर भाषा कहा जा सकता है। जब मन मुखर होता है, बोलने लगता है, तब मन का नाम भाषा हो जाता है और भाषा जब मूक बनती है, तब उसका नाम मन हो जाता है। कितना ही बडा ज्ञानी हो, अतीन्द्रियद्रष्टा हो, यदि उनके पास भाषा नही है तो वह दुनिया के काम का नही होता। केवलज्ञानी और अवधिज्ञानी भी भाषा के अभाव मे अनुपयोगी बन जाते हैं। केवलज्ञानी भी मूक हो सकता है। वह जानता सब कुछ है पर बता नही सकता। वह दुनिया के लिए अनुपयोगी होता है। मुनि के लिए एक विशेषण है—'तिन्नाण तारयाण'—मुनि स्वय तरता है और दूसरो को तारता है। वह स्वयं अपनी समस्याओ का पार पाता है और दूसरो को भी समस्याओ से पार पहुचाता है। यह सब भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। भाषा के बिना ऐसा नही हो सकता। भाषा के अभाव मे वह स्वय तैर सकता है, दूसरो को नही तैरा सकता। 'तिन्नाण तारयाण' वाली बात भाषा के आधार पर ही सफल होती है।

दुनिया मे तीन प्रकार के लोग है।

एक बादशाह था। उसको एक नौकर की जरूरत थी। परीक्षण के लिए अनेक लोगो को बुलाया। जब आदमी रखना था तो परीक्षण जरूरी

था। क्योकि आदमी बहुत काम देने वाला होता है तो आदमी वहुत खतरनाक भी होता है। कोई खतरनाक आदमी न आ जाए इसलिए परीक्षा जरूरी थी। उपस्थित लोगो मे बादशाह ने तीन व्यक्तियो को चुना। शेष को विदाई दे दी। बादशाह ने तीनो व्यक्तियो को सामने खडा कर कहा—बताओ, इत्तफाक से मेरी दाढी और तुम्हारी दाढी मे एक साथ आग लग जाए तो तुम क्या करोगे? पहला तत्काल बोल उठा—हुजूर! आपकी दाढी की आग तत्काल बुझा दूगा। मेरी दाढी की आग की चिन्ता ही नही करूगा। दूसरा बोला—'जहापनाह! पहले मै अपनी दाढी की आग बुझाऊगा और फिर आपकी दाढी की चिन्ता करूगा।' तीसरा बोला—'हुजूर! एक हाथ से आपकी दाढी की आग बुझाऊगा और दूसरे हाथ से अपनी दाढी की आग बुझाऊगा।'

बादशाह ने तीनो व्यक्तियो के उत्तर सुनकर कहा—'पहला आदमी अव्यावहारिक है। दुनिया मे ऐसा कोई भी आदमी नही होता जो कठिन समय आने पर अपनी बात न सोचकर दूसरे की बात सोचता हो। अपनी हित-चिन्ता न कर दूसरे की हित-चिन्ता करता हो। वह व्यक्ति सर्वथा अव्यावहारिक है। जो व्यक्ति अव्यावहारिक बात कहता है, वह हमेशा धोखा देता है। अज्ञानी व्यक्ति सदा अव्यावहारिक बात करता है। वह ऐसी बात करता है कि सामने वाले को लुभा लेता है, किन्तु उसे धोखा देता है।'

'दूसरा आदमी स्वार्थी है। स्वार्थी आदमी किसी का भला नही करता। वह खुदगरज होता है। वह सदा अपनी ही बात सोचता है, अपना ही भला करता है। दूसरे की बात को वह सोच ही नही सकता। वह आदमी भी खतरनाक होता है।'

'तीसरा आदमी व्यावहारिक है। वह व्यवहार की बात करता है, सचाई की बात करता है। वह न अव्यावहारिक है और न स्वार्थी। वह व्यवहार के धरातल पर जीता है।'

बादशाह ने उस तीसरे व्यक्ति को नौकरी दे दी। दोनो को विदा कर दिया।

जो आदमी अपनी भलाई करना जानता है और साथ-साथ दूसरे की भलाई करना भी जानता है वह व्यावहारिक होता है। यह व्यवहार की बात होती है। हमारी दुनिया मे यही व्यवहार चलता है।

भाषा भी एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा अपनी भी भलाई हो सकती है और दूसरे की भी भलाई हो सकती है। भाषा मे भलाई निष्पादन करने की शक्ति है तो उसमे बुराई करने की शक्ति भी है। दोनो ओर वह समानरूप से चलती है। भाषा मे जो क्षमता है, भाषा के द्वारा जो सपादित होता है, वह न मन के द्वारा होता है और न शरीर के द्वारा होता है।

इसलिए भाषा का मूल्य सबसे अधिक है।

हमारे जीवन-तंत्र के तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। सबसे पहले है मन। यह चेतना को भीतर ले जाता है। उसके बाद है वाणी और फिर है शरीर। यह है जीवन की सीमा। हमारा सारा आचार और विचार इनकी सीमाओ में निर्धारित होता है। फिर चाहे आचार और विचार अच्छा हो या बुरा। कोई बुरा विचार मन मे उभरा और मन तक ही सीमित रहा तो व्यवहार मे वह अलाभप्रद नही बनता। मन मे आया कि उस व्यक्ति को दो-चार लात मारू, चाटे जमाऊ या उसका गला घोट दू। यह विचार आया, मन तक रहा तो कोई बात नही। आया और चला गया, भीतर प्रवेश नही हो सका किन्तु जब वही विचार भाषा मे आ जाए तो क्या होता है, सब उसको जानते है। आचरण की सीमा आगे बढ गई। व्यवहार आगे बढ गया। रोष पैदा हो गया, आक्रोश पैदा हो गया और सामने वाले व्यक्ति की भृकुटी तन गई। बात यदि भाषा तक ही सीमित होती है, तो केवल तनाव की स्थिति बनती है। जब वही बात काया मे उतर आती है तब स्थिति और गंभीर बन जाती है। हाथ उठ जाता है। चाटे जड दिए जाते है। लातें मार दी जाती है। संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

मन की एक सीमा है। वाणी की एक सीमा है। शरीर की एक सीमा है। हमारे सारे आचरण और व्यवहार—इन सीमाओ मे चलते है। इसीलिए सबसे पहला स्थान मन को दिया गया। कोई बात मन मे आए, सयम करो। उसे मन तक ही सीमित रखो। मन मे कोई बुरी बात न आए, अच्छी बात है। पर मन मे आ जाए तो उसे मन तक रखो। बाहर मत आने दो। यदि यह सीख लिया जाता है तो बहुत सारी समस्याओ का समाधान हो जाता है। जब आदमी इस सीमा से आगे बढ़ता है तो वह बात उसके वश मे नही रहती, वह दुनिया की बात हो जाती है। जब तक मन की बात मन मे रहती है तब तक वह व्यक्तिगत बात बनी रहती है। पर जब मन की बात भाषा में उतर आती है तब वह सामाजिक बन जाती है, वैयक्तिक नही रहती। व्यक्ति और समाज की यही सीमा है। जब आचरण मन की सीमा तक होता है, वह वैयक्तिक होता है। वह व्यक्तिगत सीमा है। मन से बाहर जब आचरण और व्यवहार होता है वहा व्यक्ति की सीमा समाप्त हो जाती है। वही समाज का आदि-बिन्दु बन जाता है। समाज का आरम्भ वचन से होता है। वचन की बात शरीर पर चली जाती है तो इसका और अधिक विस्तार हो जाता है। वाणी एक ऐसी शक्ति है जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर शरीर को उछालती है। आदमी किसी से लडता है तो वाणी के द्वारा लड़ता है। आदमी किसी से प्रेम करता है तो वाणी के द्वारा करता है। आदमी किसी को अपना बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता

है। आदमी किसी को विरोधी बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है। वाणी की बहुत बडी शक्ति है। मुह से एक बात निकलती है और सामने वाले व्यक्ति को जो चाहे सो बना देती है।

अग्रेज पानी मे डूब रहा था। एक भारतीय ने देखा। उसके मन मे करुणा जागी। वह तैरना जानता था। वह पानी मे कूदा और अग्रेज को बचा लिया। तट पर आकर अग्रेज ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए कहा—थैंक्यू। बचाने वाला अनपढ था। वह समझा नही। उसने समझा—कह रहा है फेंक दो। उसने अग्रेज को उठाकर पुन पानी मे फेक दिया। बोला—मैने ही निकाला और मुझे ही कह रहा है फेक दो। यह सारा वाणी का चमत्कार था, शब्द का चमत्कार था और कुछ नही। निकालने वाला भी वही था, फेकने वाला भी वही था। करुणा गायब हो गई उसके मन से। मन मे आक्रोश जाग गया। करुणा का स्थान क्रूरता ने ले लिया। अग्रेज पानी मे तडपता रहा। वह तट पर खडा उसे तडपते देखता रहा। इस दुनिया मे वाणी के द्वारा क्या-क्या नही होता। सारा इतिहास वाणी पर आधारित है। वह ज्ञान वाणी मे निबद्ध होकर पुस्तको मे प्राप्त है। जो कुछ मिलता है, वह सारा वाणी के द्वारा मिलता है।

वाणी के साथ तीन शक्तिया काम करती है

- वाणी की अपनी शक्ति।
- भावना की शक्ति।
- वाणी के द्वारा पैदा होने वाली तरग की शक्ति।

ये तीनो शक्तिया है। सबसे पृष्ठभूमि मे रहती है भावना की शक्ति। वाणी के साथ भावना का बहुत बडा सबध है। जिस भावना से जो वाणी निकलती है वैसा ही कार्य होने लग जाता है और वैसी ही तरग पैदा होने लग जाती है। भावना के बिना वाणी को समझा ही नही जा सकता। आदमी अपनी भावना से बात को पकडता है और कहने वाले की भावना से भी बात समझ मे आ जाती है। भावना है सूक्ष्म वाणी। भावना सबसे अधिक काम करती है। जितने मनोवैज्ञानिक परिवर्तन है, सब भावनात्मक वाणी के द्वारा होते हैं। भावना शब्दो के माध्यम से आती है। भावना शब्दातीत नही होती। मन मे उसका एक आकार बनता है। वह शब्द का ही आकार होता है।

एक बुढिया सिर पर गठरी लिए जा रही थी। एक आदमी घोडे पर चढकर जा रहा था। उसने बुढिया को देखा। मन मे दया जागी। उसने कहा—मा! मै तुम्हारे गाव ही जा रहा हू। लाओ, गठरी घोडे पर रख दो। आगे मैं ठहरूगा, वहा ले लेना। बुढ़िया ने गठरी दे दी। कुछ दूर जाकर घुडसवार रुका। बुढिया भी पहुच गई। पानी पीया। बुढिया बोली—

भाई ! अव तुम जाओ, घोड़ा भी थक गया है। गठरी दे दो। वड़ी कृपा की, इतनी दूर गठरी ले आए। घुडसवार ने गठरी बुढिया को दे दी। घुड़सवार आगे वढ गया। उसके मन मे आया आज मै भूल कर बैठा। वुढिया की गठरी भारी-भारी थी। उसमे कुछ माल अवश्य था। यदि मैं उस गठरी को लेकर आगे वढ जाता तो वुढिया क्या कर पाती ? मैने वडी मूर्खता की। आया हुआ माल व्यर्थ ही लौटा दिया। वह वही रुक गया। इतने मे ही वुढिया भी धीरे-धीरे वहा पहुच गई। घुडसवार वोला—मा ! थक गई होगी। लाओ गठरी दो। आगे रुक जाऊगा। वुढिया वोली—नही, अव गठरी नही दूगी। जो तुम्हे कह गया, वह मुझे भी कह गया।

वुढिया जान गई कि अब घुडसवार के मन मे धोखा देने की भावना आ गई।

भावना की शक्ति प्रसरणशील होती है। भावना हमारी सूक्ष्म भाषा है। यह सूक्ष्म वाणी है। एक व्यक्ति के मन मे जो भाव या भाषा वनती है, सामने वाले व्यक्ति के मन मे उसकी प्रतिक्रिया भाषा मे वन जाती है। यह ऐसा जाना पहचाना मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसे कोई उलट नही सकता। वह अन्यथा नही हो सकता। एक व्यक्ति किसी के वारे मे अच्छे विचार करता है, अच्छी भावना करता है, सामने वाले के मन मे अपने आप अच्छे विचार आ जाते है, अच्छी भावना आ जाती है। बुरा विचार करता है तो सामने वाले के मन मे उसके प्रति अप्रियता की भावना जाने-अनजाने पैदा हो जाती है।

वाणी की एक शक्ति है भावना और दूसरी शक्ति है उच्चारण। उच्चारण के आधार पर ही समूचे मत्र-शास्त्र का विकास हुआ है। भावना और उच्चारण के आधार पर ही मत्र-शक्ति का विकास होता है। तरग का सिद्धात भी इसके साथ जुडता है। आज वाणी पर आधुनिक खोजे हुई है, मत्रशास्त्रीय खोजे हुई है। इन खोजो मे तीनो शक्तियो की वात निर्णीत हुई है। तीनो वाते जुडी हुई मिलती है। पहली वात है भावना। दूसरी वात है उच्चारण और तीसरी वात है उच्चारण के द्वारा उत्पन्न वाणी की शक्ति। उच्चारण के साथ-साथ तरग पैदा होती है। एक शव्द का उच्चारण होता है और अल्फा-तरगे पैदा हो जाती है। एक शव्द का उच्चारण होता है और थेटा-तरगे पैदा हो जाती हैं, वेटा तरगे पैदा हो जाती हैं। इन तरगो के आधार पर मत्रो की कसौटी की जाती है। 'ओम्' का उच्चारण होता है, अल्फा-तरगे पैदा होती है और मस्तिष्क रिलेक्स हो जाता है, शिथिल हो जाता है। जैसे जैसे मस्तिष्क की शिथिलता वढती है, अल्फा-तरगे पैदा होती चली जाती है। शिथिलन के लिए यह वहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जितने भी वीज-मत्र हैं उनसे भिन्न-भिन्न तरगें उत्पन्न होती हैं और वे

मस्तिष्क को प्रभावित करती है। बीजाक्षर है—अ, सि, आ, उ, सा अर्हं, ओम्, ह्रीं, श्री, क्लीं। ये सारे बीजमंत्र है। इनसे उत्पन्न तरगे ग्रन्थि-संस्थान को प्रभावित करती हैं, अन्तःस्रावी ग्रथियो के स्राव को सतुलित करती है। ग्रथियो का स्राव 'ह्र' के उच्चारण से सतुलित हो जाता है। मस्तिष्क अस्त-व्यस्त होता है। एक शब्द का जप शुरू होता है और मस्तिष्क व्यवस्थित हो जाता है।

ध्यान के साथ-साथ जप का भी विशेप प्रयोग चल सकता है। उससे शाति की तरगे उत्पन्न होती हैं, एकाग्रता का विकास होता है। कुछेक अक्षरो का जाप ठडक पैदा करता है और कुछेक अक्षरो का जाप गर्मी पैदा करता है। एक हजार बार "र" का उच्चारण करे। तापमान वढ जाएगा। "र" बीजाक्षर है। उसके परमाणु ऐसी तरगे पैदा करते है जो तापकारक होती है। इसी प्रकार ठड पैदा करने वाले बीजाक्षर भी है। आकर्षक और वशीकरण करने वाले वीजाक्षर है। इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की तरगें उत्पन्न होती है और अपना प्रभाव डालती है। तरगो का प्रभाव आज छुपा हुआ नही हैं। आज वह प्रमाणित हो चुका है। हमारी सारी दुनिया तरगो की दुनिया है। यहा जो कुछ भी हो रहा है, वह सारा तरगो के द्वारा हो रहा हैं। चिन्तन की तरग, भाषा की तरग, शरीर से निरन्तर निकलने वाली तरग आदि-आदि अनेक प्रकार की तरगे हैं। यह दुनिया नाना प्रकार की ऊर्मियो और तरगो से आकुल-व्याकुल है। सव कुछ तरगमय है। तरगातीत कुछ भी नही है। तरगातीत वही हो सकता है जो भाषातीत हो जाता है, भापा से परे चला जाता है। जो व्यक्ति भाषातीत, विकल्पातीत और चिन्तनातीत नही होता वह कभी तरगातीत नही हो सकता।

ध्यान का प्रयोग तरगातीत जगत् का अनुभव करने के लिए करते हैं। किन्तु तरगो के जगत् से परे जाना, गुरुत्वाकर्पण को तोडकर अन्तरिक्ष मे जाना कोई साधारण वात नही है, बहुत ही कठिन वात है। मनुष्य पुरुपार्थी है। उसमे असीम मनोवल है। उसमे असीम सकल्प हैं। उसकी चेतना प्रबल है। उसने गुरुत्वाकर्षण को भी वेध डाला है। वह गुरुत्वाकर्षण की सीमा को पार कर अन्तरिक्ष यात्रा करने मे पूर्ण सफल हुआ है। जव कोई व्यक्ति वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अन्तरिक्ष की यात्रा कर सकता है तो ध्यान के द्वारा तरगातीत चेतना का अनुभव क्यो नही कर सकता ? ऐसा सम्भव है। यह किया जा सकता है।

प्रश्न है वाणी की शक्ति का विकास कैसे हो ? जव तक वाणी की अशुद्धि नही मिटती, उसके मल-दोप समाप्त नही होते, तव तक वाणी की शुद्धि नही हो सकती। उसकी अशुद्धि को मिटाने का एक उपाय है—**'प्रलम्बनादाभ्यासाद् वाक्शुद्धिः'**—प्रलव नाद के अभ्यास से वाक्शुद्धि होती

है । ध्वनि प्रलम्ब है । मन के साथ, भावना के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रलम्बनाद का अभ्यास महत्त्वपूर्ण होता है। यह उच्चारण का एक प्रकार है । उच्चारण अनेक प्रकार के होते है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि । मत्रशास्त्र मे ह्रस्वोच्चारण का एक प्रकार का लाभ होता है, दीर्घोच्चारण का दूसरे प्रकार का लाभ होता है और प्लुत उच्चारण का भिन्न प्रकार का लाभ होता है । उच्चारण जितना लम्बा होता है, ऊर्जा उसी के अनुपात मे निर्मित होती है और मन के साथ उसका सबध स्थापित होता है । अर्हं और ओम् का लम्बा उच्चारण होता है । सामवेद मे अनेक प्रकार की उच्चारण-पद्धतियो का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है । उच्चारण के आधार पर एक-एक मत्र की हजार-हजार शाखाए हो जाती हैं ।

बहुत सारे लोग जप करते है । वे कहते है, इतने वर्ष हो गए, जप से कुछ नही हुआ । कैसे हो ? निष्पत्ति कैसे मिले ? जब तक मंत्र-शब्द के उच्चारण का रहस्य हाथ मे नही आता तब तक मत्र अर्थवान् नही होता, शक्तिशाली नही बनता । गुरु के बिना उच्चारण-भेद से होने वाले परिवर्तनो को नही जानता, वह दूसरो को क्या बता सकता है ? एक ही शब्द उच्चारण भेद से पचासो परिणाम ला देता है । ओम् के अनेक प्रकार के उच्चारण हैं । एक प्रकार का उच्चारण एक काम करता है और उसी शब्द का दूसरे प्रकार का उच्चारण दूसरा काम करता है । उसकी प्रतिक्रिया बदल जाएगी । परिणाम बदल जाएगा ।

भाषा के उच्चारण का बहुत महत्त्व है। मंत्रशास्त्र मे शब्द के उच्चारण को प्राथमिकता दी गयी है । लाभदायी मत्र भी गलत उच्चारण के कारण अलाभप्रद बन जाता है ।

प्राचीन जैन साहित्य मे उच्चारण के अनेक दोष बतलाए हैं—
जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं जोगहीणं घोसहीणं । मत्र का उच्चारण करते समय मत्राक्षरो को कम भी न बोले, अधिक भी न बोले, एक दूसरे मे मिलाकर न बोले । जहां विराम लेना हो वहा विराम ले । एक पद को दूसरे मे न मिलाए । शब्दो के योग का ध्यान रखे । घोष का पूरा विचार रखे । उचित शब्द पर उचित विराम न लेने के कारण अर्थ का अनर्थ हो जाता है । सारे अर्थ का परिवर्तन हो जाता है । जब उच्चारण के सारे दोष मिट जाते है तब वाणी भी शुद्ध होती है । शब्दानुशासन का कथन है—जो शब्द का शुद्ध उच्चारण करता है वह स्वर्ग मे चला जाता है, शब्द उसके लिए कामधेनु बन जाता है ।

दग्धाक्षर की बात बहुत प्रचलित है । यह भी उच्चारण या रचना-पद्धति का ही एक दोष है । इससे सारी भावना ही बदल जाती है । जीवन का वृत्त बदल जाता है । नागौर शहर मे एक सेवक रहता था । वह कविता

लिखता था। एक रचना के अन्त मे उसने अपने स्थान का नाम लिखा। सयोगवश लिखते समय उसने 'नागो रमे' ऐसा लिख दिया। उसे लिखना था—'नागौर मे' और लिख दिया 'नागो रमे'। ऐसा योग बना कि वह उस रचना के वाद कुछ ही महीनो मे पागल हो गया और नगा घूमने लगा (नागो रमे' का यही अर्थ है)।

वाणी और शब्दो का सयोजन और उच्चारण हमारी भावना को प्रभावित करता है। शब्दो की शक्ति, भावना की शक्ति, और उच्चारण की शक्ति—इन तीनो को समझना वहुत आवश्यक है। यही वाणी-शुद्धि की प्रक्रिया है। प्रलम्ब नाद इसी का एक सकेत है।

वाक्शुद्धि का दूसरा उपाय है—सत्य का आलवन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरगो को भी समझ लिया, किन्तु उसके पीछे भावना का जो वल है वह यदि असत् है, असत्य है तो सब कुछ विगड जाएगा। यदि हम आज की समस्याओ का विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि उनके मूल मे असत्य का वहुत वडा हाथ है। इसलिए सारी समस्याए जटिल होती जा रही है। आप सोचेगे, असत्य के विना समाज का व्यवहार ही नही चल सकता। सारी राजनीति, कूटनीति के आधार पर चलती है। कूटनीति का आधार है—असत्य। समाज का छोटे से छोटा व्यवहार और वडे मे वडा व्यवहार असत्य के आधार पर चलता है। एक आदमी झूठ वोलता है, वच जाता है, सत्य वोलता है, मारा जाता है।

जज ने अपराधी से कहा—'तुम न्यायालय मे खडे हो। सच-सच कहना, झूठ मत कहना। अच्छा वतलाओ, झूठ वोलने से कहा जाओगे और सच वोलने से कहां जाओगे ?'

'जज साहब ! जानता हू। झूठ वोलने से नरक मे जाऊगा और सच वोलने से जेल मे जाऊगा।'

आज प्रत्येक आदमी के मन मे यह आस्था बैठ गई है कि समाज मे सच वोलने का अर्थ है—आपदाओ को निमन्त्रण देना, कठिनाइयो मे फसना। जो झूठ वोलने मे माहिर होता है वह वडे से वडा अपराध करके भी वच जाता है। जो व्यक्ति वाक्-चतुर होता है, झूठ को छिपाना जानता है, वह सफल हो जाता है। जो सच वोलता है वह वुद्धू होता है, पागल होता है, मूर्ख होता है—यह आज की आस्था है। इसी आस्था के कारण सारा व्यवहार गडवडा गया है। हम चाहते है कि अन्याय मिटे, अनाचार मिटे, अत्याचार मिटे, ईमानदारी और प्रामाणिकता आये, सत्य का विकास हो। पर यह कैसे हो ? मूल को ही काटा जा रहा है। मूल मे ही भूल है, फिर यह सव कैसे हो ?

भगवान् महावीर ने सत्य का सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होने

कहा—सत्य वही है जहां काया की सरलता है, भावों की सरलता है, वाणी की सरलता है और अविसंवादिता है। अविसंवादिता का अर्थ है—विसगतियो से परे हो जाना। एक दिन एक बात कहना और दूसरे दिन दूसरी बात कहना—यह विसवाद है। सत्य वह होता है जो अविसंवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो बात कही वही बात पचास वर्ष बाद कहेगा। वाणी मे विसवादिता नही होगी। किंतु आज भाव भी टेढ़ा है, वचन भी टेढ़ा है और जीवन के पग-पग पर विसवादिता है। इस स्थिति मे वाणी की शक्ति कैसे प्राप्त हो? वाक्-शुद्धि कैसे हो? जिस व्यक्ति की वाक्-शुद्धि हो जाती है, उसके मुह से निकली हुई बात को होना ही पडता है। वह कथन अन्यथा नही होता। वचनसिद्धि का सबसे बडा साधन है—सत्य। जो सत्यवादी होता है उसके कथन को कोई बदल नही सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा नही कर सकता। उसकी वाणी की तरगो मे, परमाणुओ मे इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पडता है। एक व्यक्ति मे सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है—बादल होते हैं तो बिखर जाते है और नही हो तो बन जाते हैं। ऋपिराय साधक थे। वे जब भी पदविहार करते आकाश मे बादल मंडराने लग जाते। आतप मद हो जाता। यह होता है। और भी न जाने क्या-क्या घटित हो जाता है! सत्य की शक्ति असीम है। परन्तु आज बचपन से ही यह सीख दिया जाता है कि सच बोलोगे तो मारे जाओगे, झूठ बोलोगे तो बच जाओगे। जब जीवन को यह मत्र मिलता है तब सच को प्रतिष्ठित करने का प्रश्न ही नही उठता। बेचारा सत्य कहां, कैसे प्रतिष्ठित हो?

वाणी-शुद्धि का दूसरा उपाय है—सत्यनिष्ठा। जिन लोगों ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी, वे विलम्ब से भले ही हो, आगे बढे हैं। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। प्रश्न है मूल निष्ठा का। वह बनती ही नही, बनने से पहले ही मर जाती है। यदि वास्तव में सत्य का प्रयोग हो तो वाणी मे भी अपार शक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है।

काया की शुद्धि जरूरी है। मन की शुद्धि जरूरी है। काया और मन दोनों के बीच मे बैठी है हमारी सरस्वती—हमारी वाक् देवी। जब तक वाक्-शुद्धि नही होती तब तक काया भी टेढी बनी रहती है। वह अशुद्ध बन जाती है। मन भी अशुद्ध बन जाता है। इसलिए वाक् देवी की, सरस्वती की आराधना साधक के लिए बहुत जरूरी है।

मानसिक अनुशासन के सूत्र

एक भाई आया। बहुत परेशान और चिन्तित। उसके चेहरे से परेशानी टपक रही थी। उसकी आखो मे निराशा और उदासी थी। ऐसा लग रहा था कि उसके प्राण सूखते जा रहे है। वह किसी गहरी चिन्ता से आकुल-व्याकुल हो रहा था। मैने पूछा—ऐसी स्थिति क्यो? क्या किसी आर्थिक झझट मे फस गए हो। उसने कहा—नही, आर्थिक कठिनाई कुछ नही है। बहुत सपन्न हू। सारी सुख-सुविधाए प्राप्त है। कोई चिन्ता नही है। जितना चाहता हू, उससे अधिक ही मिलता है।

मैंने कहा—क्या तुम पारिवारिक समस्याओ से आक्रात हो?

वह बोला—नही, सौभाग्य से मुझे ऐसा परिवार मिला है जो विरल व्यक्तियो को मिल पाता है। सभी मेरा बहुत सम्मान करते है। सभी मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। एक को बुलाता हू, पाच दौडे आते हैं। परिवार की ओर से पूर्ण निश्चित हू। इतना ही नही, मेरे पास रहने वाले नौकर-चाकर भी बहुत विनीत और श्रमनिष्ठ है।

मैंने पूछा—तो फिर परेशानी का क्या कारण है?

उसने निश्वास छोडते हुए कहा—बाहर की मुझे कोई परेशानी नही है। मैं अपनी भीतरी परेशानी से व्यथित हू। भीतरी परेशानी यह है कि मेरा मन बहुत दुर्बल हो गया है। वह इतना बेचैन हो जाता है कि अकारण ही मैं सताया जाता हू। मन पर मेरा कोई नियन्त्रण नही है। प्रात काल एक बात सोचता हू, मध्याह्न मे उसको भूलकर दूसरी बात सोच लेता हू और साय उसे भी भूलकर तीसरी बात सोच लेता हू। किसी बात पर मन दृढ नही रहता। मैं समझ नही पाता, यह कैसी स्थिति है? जानता हू कि हिंसा बहुत बुरी है। मन करता है कि अब मै अहिंसक रहू। परन्तु ज्योही हिंसा की स्थिति सामने आती है, मै हिंसा मे रत हो जाता हू, अहिंसा को भुला देता हू।

सोचता हू, गाली नही दूगा। लोग कहते है, गाली देना बहुत बुरा है। गाली देने से बच्चे बिगड जाते है। वे भी गालिया सीख लेते हैं। उन पर बुरा असर होता है। सोचता हू, गाली नही देनी चाहिए। किन्तु जब उत्तेजना का अवसर आता है तब मुह से गाली निकल ही जाती है।

कोई कारण नही। प्रतिदिन बीसो घटनाए घटित होती है। सोचता हू ऐसा नही करूगा, समय आता है और वैसा ही कर देता हू।

मै समझ नही पा रहा हू कि सोचने वाला मन कोई और है और करने वाला मन कोई दूसरा है। भीतर मे ये दो बाते होती हैं। यह सब क्या है ? सबसे बडी परेशानी यही है कि जो सोचता हू वह कर नही पाता। सब कुछ उलटा होता है। इसी से दिन-रात परेशानी मे रहता हू।

मैने कहा—परेशान मत बनो। यह केवल तुम्हारी ही समस्या नही है, पूरी मानव-जाति की समस्या है। प्रत्येक मनुष्य की यह समस्या है। मनुष्य की ही नही, जिस किसी प्राणी मे मन का विकार है, वह इस समस्या से आक्रात है। दुनिया मे ऐसा एक भी व्यक्ति नही है जो इस द्विरूप मन की समस्या का सामना न कर रहा हो। ऐसा करता है, यह ठीक है। पर प्रश्न होता है, क्या मन भी दो हैं। मन तो एक ही है। यदि मन एक है तो जिस मन से सोचा कि मैं अमुक कार्य नही करूगा तो उस मन को वह काम नही करना चाहिए। यदि मन एक होता तो आदमी का सोचना और करना एक होता। किन्तु उसका सोचना और करना दो होते है इसलिए यह मानना होगा कि मन दो है। अब बताए। किस मन से लडू, और किस मन का नियन्त्रण करू ? क्या सोचने वाले मन से लडू, उस पर नियन्त्रण करू ? आदमी लडने की बात सोचता है, नियन्त्रण की बात सोचता है, परन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि जिस पर नियन्त्रण करना चाहता है, वह तो बच निकलता है और जिस पर नियन्त्रण नही होना चाहिए वह बेचारा फस जाता है। अपराधी बच जाता है और निरपराधी पकड लिया जाता है।

मैने कहा—हमारा मन बिलकुल निरपराध है। उसका कोई दोष नही होता। वह तो एक शक्ति है। मन एक शक्ति है, बचपन एक शक्ति है और शरीर एक शक्ति है। ये तीन शक्तिया है, कार्य के साधन है। ये इतने सशक्त साधन है कि किसी भाग्यशाली को ही मिल पाते हैं। तीनो महाशक्तिया हैं। क्या हम इन महाशक्तियो से लडे ? क्या इन पर नियन्त्रण करने की बात सोचे ? लडने और नियन्त्रण करने की कोई आवश्यकता नही है।

इतना मायाजाल, इतना रहस्यवाद कि कुछ भी समझ मे नही आ रहा है कि क्या हो रहा है ? मूल अपराधी पकड मे नही आ रहा है और सामने आ जाता है, उसे ही दण्डित किया जा रहा है। कुछ अपराधो का पता ही नही चलता। कुछ अपराधी सामने होते है, वे ज्ञात हो जाते है।

मन कोई दोष नही करता। वह पवित्र शक्ति है। वह हमारे तन्त्र का शक्तिशाली अवयव है। हम उसका जैसा चाहे वैसा उपयोग कर सकते है। किन्तु अज्ञान के कारण हम उस पर नियन्त्रण करने की बात सोचते है। निर्दोषी का कैसा नियन्त्रण ? दोष कही और है। दोषी कोई और है। हमने केवल स्थूल जगत् को समझा है। स्थूल शरीर, स्थूल वाणी और स्थूल मन को समझा है। किन्तु इस स्थूल के पीछे कितना बडा सूक्ष्म जगत् है, इसको

समझने का प्रयत्न ही नही किया। प्रयत्न करने पर भी समझ नही पाए। यदि हम अपने भीतर छिपे हुए विराट्, सूक्ष्म जगत् को समझ पाते तो मन से लडने की बात आदमी को उपजती ही नही। सारा दोष सूक्ष्म जगत् से आ रहा है। सारे दोष भावना से प्रवाहित हो रहे है। इस स्थूल शरीर से भीतर बहुत बडा सूक्ष्म जगत् है। वहा से आने वाली भावना की धारा मन को काम मे लेती है। मन बेचारा है नौकर। जैसा काम सौपा जाता है, वैसा वह कर देता है। नौकर कितना ही शक्तिशाली हो, मालिक के कहने के अनुसार उसे काम करना ही पडता है। कभी-कभी मन को अनचाहा काम भी करना पडता है। दोष भावना से आ रहा है। हम वहा पहुच नही पाते या पहुचना नही चाहते और मन से लडने की बात सोचते है। इसका परिणाम क्या होगा ? हजारो-वर्षों से या अनन्त काल से आदमी मन से लडता रहा है, पर वह आज तक उसको पराजित करने मे सफल नही हुआ। जिन लोगो ने यह जान लिया कि मन के साथ लडने का प्रयास व्यर्थ है, वे भावना के स्तर पर, दोषो को सुधारने मे सफल हुए है।

आदमी की आदत बडी विचित्र होती है। पडोसी से दुश्मनी होती है। पडोसी यदि शक्तिशाली होता है तो वह अपना बदला नही ले पाता, किन्तु वह पडोसी की गाय-भैंस पर लाठियो का प्रहार कर अपनी दुश्मनी का बदला लेने की कोशिश करता है। पूछने पर कहता है, पडोसी नही तो उसकी गाय-भैंस ही सही। ये पशु भी तो उसी के हैं।

हम भी वैसा ही कर रहे है। भावना तक पहुच नही पाते तो बेचारे मन को ही दण्डित करने लग जाते है।

साधना करने वाले व्यक्ति को इस परेशानी से बचना चाहिए। उसे इस सचाई को समझ लेना चाहिए कि मन के साथ लडना व्यर्थ हैं। उसके साथ लडने की कोई जरूरत नही है। मन जो करे, उसे करने दो। यदि लडाई करनी है तो उससे करो जो मन से यह करवा रहा है। उसके साथ लडना व्यर्थ नही जाएगा। उसके साथ भी लडना नही होगा, उसका भी प्रतिरोध नही करना होगा, पर दूसरी पद्धति से उस पर नियन्त्रण करना होगा।

भावना, सस्कार और वृत्तिया आती हैं और बेचारे मन पर चित्र बनाकर चली जाती है। मन कोरा कागज है, और कुछ भी नही।

चित्रकारिता की परीक्षा हो रही थी। दस-दस, बारह-बारह वर्ष के बच्चे परीक्षार्थी थे। उनको तीन चित्र बनाने थे। एक चूहे का, दूसरा बिल्ली का और तीसरा कुत्ते का। विद्यार्थियो ने तन्मयता के साथ चित्र बनाए, उनमे रग भरे। परीक्षा का समय समाप्त हुआ। चित्रकार अध्यापक एक-एक विद्यार्थी के चित्रो का परीक्षण कर उनको नम्बर दे रहा था। एक

विद्यार्थी ने कोरा कागज अध्यापक के हाथ मे दे दिया। अध्यापक ने चिढते हुए कहा—यह क्या ! अभी तक एक भी चित्र नही वना पाए ?

विद्यार्थी वोला – मैंने तीनो चित्र वनाए थे।

कहा है चित्र ? पृष्ठ खाली पडा है—अध्यापक ने कहा।

विद्यार्थी वोला—चूहा वनाया था किन्तु विल्ली उसे खा गई।

अरे, विल्ली कहा है ?

कुत्ता विल्ली को खा गया।

अच्छा, तो वताओ, कुत्ता कहा गया ?

एक विल्ली से उसका पेट नही भरा तो वह दूसरी विल्ली की खोज मे चला गया। तीनो चले गए। मेरा कागज कोरा ही रह गया।

यह मन कोरा कागज है। भीतर मे वैठा कोई विद्यार्थी उस पर चूहे का चित्र वनाता है तो फिर विल्ली आ जाती है, और विल्ली का वनाता है तो कुत्ता आ जाता है और कुत्ता भी अधिक समय तक नही टिक पाता। वह भी किसी की खोज मे चला जाता है। मन कोरा ही रह जाता है। चित्र वनते जाते है और मिटते जाते है। हजारो चित्र वनते हैं और चले जाते हैं। वह अन्त मे रहता है कोरा का कोरा। ऐसी स्थिति मे उस पर चित्र वनाने का अर्थ ही क्या होता है ? उससे लडने का प्रयोजन ही क्या है ? जिस पर कुछ भी टिके नही, उससे क्यो लडा जाए ? हमे उससे लडना है जहां से ये सारे चित्र उभर रहे है। कल्पना और स्मृतियो के चित्र, भावनाओ के चित्र, भलाई और बुराई के चित्र—ये सारे चित्र भीतर से आ रहे हैं। साधना करने वाले व्यक्ति को परेशानी इसलिए नही होती कि वह स्थूल जगत् की सीमा मे नही जीता।

लोग पूछते हैं, जानना चाहते है कि क्या हमारा भी कोई सूक्ष्म जगत् है ? क्या हमारा कोई सूक्ष्म अस्तित्व है ? क्या इस दुनिया से परे भी कोई दुनिया है ? क्या मरने के वाद भी कुछ अस्तित्व रहता है ?

मरने की वात क्यो सोचते हो ? दूर जाने की कोई जरूरत नही है। तुम्हारे भीतर वहुत वडी दुनिया है। मरने के वाद क्या होगा यह प्रश्न और इसका उत्तर भी तुम्हारे भीतर लिखा हुआ है। तुम भीतर की दुनिया को देखो, सारे प्रश्न समाप्त हो जाएंगे। आत्मा और परमात्मा के प्रश्न, पूर्व-जन्म और पुनर्जन्म के प्रश्न उन लोगो ने पूछे जो स्थूल शरीर की सीमा पर सिमटे रहे। जिन लोगो ने स्थूल शरीर की सीमा को पार कर दिया उनके लिए ये प्रश्न समाहित हो जाते हैं। आत्मा और परमात्मा को जानने का उपाय स्थूल शरीर और मस्तिष्क मे नही है। यह उपाय शरीर और मस्तिष्क की सीमा से परे है। जिसने इस सीमा को पार कर लिया, उसने सव कुछ जान लिया। सीमा मे आवद्ध व्यक्ति हजारो-हजारो उपायो से भी

उन्हे नही जान पाता। आवश्यकता है, हम अपनी वृत्तियो और सस्कारो तक पहुचे, आस्रवो तक पहुचे। हमारे भीतर आस्रव हैं, झरने हैं। वे निरतर वह रहे है। वे इतने वडे स्रोत है, झरने हैं कि कभी सूखते ही नही। मिथ्यादृष्टि का झरना है, आस्रव है जो सभी झरनो को पानी सप्लाई करता है। एक आस्रव है—अविरति। महान् आस्रव और विशाल झरना। इसके कारण नई-नई आकाक्षाए पैदा हो रही है और मन को वह आकाक्षा का पानी निरन्तर मिल रहा है। उस पानी से वह सदा हरा-भरा रहता है। प्रमाद का एक झरना है। वह भी छोटा नही है, वहुत बड़ा है। इसके कारण आदमी सोता रहता है, जागता ही नही। यह महानिद्रा कभी मिटती ही नही। यह स्थूल शरीर बेचारा दिन में सात-आठ घण्टे सोता होगा, किन्तु प्रमाद की नीद चौबीस घण्टा बनी की वनी रहती है। नीद टूटती ही नही, आखे खुलती ही नही। कषाय का आस्रव, झरना भी विशाल है। उसका प्रवाह चारो दिशाओ मे फैलता है। अहकार, कपट, लालच, घृणा, ईर्ष्या, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता उसके उपजीवी छोटे-छोटे झरने हैं। ये विविध प्रकार के झरने भीतर मे बह रहे है। सब झरनो का पानी बेचारे मन पर गिरता है और वहां से दूसरो तक पहुचता है। जो कुछ आता है इस पानी के साथ बहता हुआ आता है। चंचलता भी इसी पानी के साथ आती है। यह पानी सारी गन्दगियो को एकत्रित कर लाता है और वेचारे मन की धारा से, मन की प्रणालिका से होकर गुजरता है। लोगो को यह भीतर के झरने दिखाई नही देते। मन की नाली, मन की प्राणिलका सवको दिखाई देती है, और लोग सोचते है कि यह सारी गन्दगी मन से ही आ रही है। वेचारे मन को दोषी होना पड़ता है, उसकी नलिका को दोषी होना पडता है। नाली का अपराध ही क्या है ? नगर मे वहने वाली गन्दी नालियो का अपराध क्या है ? उनमे गन्दगी कहा से आती है ? क्या नाली गन्दगी को पैदा करती है ? नही, गन्दगी आती है घरों से, फैक्टरियो से और अन्यान्य औद्योगिक सस्थानो से। परन्तु 'गन्दी' का विशेषण नाली के साथ ही जुडता है। अरे, नाली गन्दी कैसे ? वह तो साफ है। जहा से गन्दगी आती है, उसका उपचार हम नही जानते। हम नाली को साफ करने मे ही विश्वास करते हैं। वह साफ होती ही नही। गन्दगी का स्रोत ऊपर से निरन्तर वह रहा है। जव तक उसकी सफाई या उसका निरोध नही होगा, गन्दगी कभी मिटेगी नही। हम लोग हमेशा नाली को साफ करने की वात सोचते जा रहे हैं और समस्या से परेशान होते जा रहे हैं। इस प्रकार समस्या का समाधान नही होगा। आगे से सफाई करते रहे और पीछे से गन्दगी का प्रवाह सतत् चालू रहे तो उस सफाई का कोई अर्थ नही होगा, सफाई व्यर्थ होगी। यदि हम वास्तव मे चाहते हैं कि सफाई हो तो सफाई वही करनी होगी जहा से गन्दगी आ

रही है।

प्रश्न है—कैसे करे ? क्या करे ? सबसे सरल उपाय है, गन्दगी के उन झरनो को बन्द कर देना होगा। आस्रवो का संवर करना होगा। इसमे मन का सहारा ले सकते हैं। इससे मन की शुद्धि हो सकती है।

झरनो को सूखाना सबसे पहला उपाय है।

दूसरा उपाय होगा—मन की नाली को बन्द कर देना जिससे कि भीतर से जो आए, वह उसे स्वीकार न करे, सम्बन्ध कट हो जाए। ये दोनो उपाय चले तो हमारी परेशानी का अन्त होगा और वह प्रश्न भी समाहित हो जाएगा कि सोचता कुछ हू और होता कुछ है, यह क्यो ? आदमी फिर यह शिकायत कभी नही करेगा कि प्रातः एक बात सोचता हू, मध्याह्न मे दूसरी बात सोचता हू और शाम को तीसरी बात सोचता हू, और करता कुछ और ही हू। यह सब कैसे हो ? पहले हम बाहर से चले। पहले ही हम भीतर के झरनो से सम्बन्ध-विच्छेद कर दे। घरो से सम्बन्ध ही तोड दें, जिससे घरो की गन्दगी इन नालियो तक पहुचे ही नही। इसका उपाय यही है। दुनिया मे कोई निरुपाय नही होती।

मन को शुद्ध और स्वच्छ करने का उपाय है—संकल्प की दृढता और एकाग्रता। गन्दगी आते-आते यह नाली इतनी गन्दी बन गयी, इतनी जर्जरित हो गई कि उसकी शक्ति क्षीण हो गई। उसकी ताकत को बढाने का एकमात्र उपाय है—सकल्प को दृढ बनाना। मन कल्पनाशील है। वह बहुत कल्पना करता है। वह निरन्तर कल्पना करता ही रहता है। परन्तु कोई कल्पना टिकती नही। आती है और चली जाती है। क्योकि कल्पना करने वाले मन की शक्ति क्षीण हो गई। आदमी बाहर से भी प्रभावित होता है और भीतर से भी प्रभावित होता है। हमारी सारी दुनिया प्रभावो की दुनिया है। कही कभी तूफान आता है, बवण्डर उठता है, आधी आती है। यह केवल हमारी पृथ्वी की घटना नही है। आज के वैज्ञानिक, पुराने ज्योतिषी, खगोलशास्त्री और आकाशीय-पिण्डो का अध्ययन करने वाले महामनीषी व्यक्ति इस सचाई को जानते हैं कि दूसरे ग्रहो मे घटना घटती है तब पृथ्वी पर आधिया, भयकर तूफान आते है। वहा की प्रतिक्रिया यहा होती है। अकाल होता है, अवृष्टि और अतिवृष्टि होती है—ये भी पृथ्वी की घटनाए नही है। इनके साथ भी आकाशीय घटनाएं जुडी होती है। हमारी समूची पृथ्वी न जाने कितने आकाशीय पिण्डो का प्रभावित क्षेत्र है! वहां के विकिरण, वहा की रश्मिया यहा आती है और प्रभाव डालती है। कुछ वर्षों पूर्व एक बार राजस्थान मे बहुत वर्षा हुई। लोगो ने अनुमान लगाया कि अभी-अभी राजस्थान में अणु-विस्फोट किया गया है, उसी का परिणाम है। किन्तु चाई यह नही थी। सचाई यह थी कि उस वर्ष सूर्य मे कुछ विस्फोट हुए

थे। उसकी कुछ विशेष स्थिति बनी थी, इसलिए यहा अतिवृष्टि हुई थी। हमारी यह पृथ्वी आकाशीय चुम्बकीय तत्त्वो से जुडी हुई है। हमारा मन भी आकाशीय और पृथ्वी के चुम्बकीय तत्त्वो से जुडा हुआ है। न जाने कितने चुम्बक हमे खीच रहे है। न जाने कितने आकर्षण आ रहे है।

डाक्टर नैवद्य ने अध्ययन किया कि मनुष्य के मन पर चन्द्रमा का क्या प्रभाव होता है ? ज्योतिष के अनुसार मन की स्थिति भी वैसी ही होगी। इसलिए सम्भवत यह कहावत चल पडी कि 'अपना-अपना चन्द्रमा देखो।' दूज का चाद और पूनम का चाद मन को बहुत प्रभावित करता है। उस डाक्टर ने और भी अनेक तथ्य खोज निकाले। उन तथ्यो के आधार पर यह सारी बात समझ मे आ जाती है। अष्टमी के उपवास की प्रथा क्यो चली ? चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को उपवास और पौषध करने की प्रथा क्यो चल पडी ? इसकी व्याख्या हमारे पास नही है। किन्तु डाक्टर नैवद्य ने यह बात स्थापित की कि इन दिनो मे चन्द्रमा समुद्र मे तूफान लाने वाला होता है, और वह मन मे भी तूफान लाता है। यदि इन दिनो मे उपवास किया जाता है, धर्म-जागरिका की जाती है तो तूफान मिट जाते हैं और मन शात रहता है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि हमारा मन बाहरी स्थितियो से प्रभावित होता है। वह केवल चन्द्रमा से ही प्रभावित नही होता, अनेक घटनाओ तथा व्यक्तियो से भी प्रभावित होता है। मन बहुत ही ग्रहणशील है। बाहर से हर घटना को लेता है और प्रभावित हो जाता है। किसी ने गाली दी किसी ने प्रशसा की तो तत्काल प्रभावित हो जाता है। यह तो बाहर के प्रभाव की बात है। भीतर में न जाने कितना-क्या भरा है! बहुत भरा हुआ है।

पिता ने कहा—बेटा! बाजार मे जाओ और भूसा ले आओ। वह बोला—पिताजी! बाजार मे जाने की क्या जरूरत है? स्कूल मे मास्टर जी कह रहे थे—तुम्हारे दिमाग मे तो बहुत भूसा भरा है। पिताजी! आप उसी को काम मे ले ले। बाहर से क्यो मगा रहे है ?

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर बहुत कुछ भरा है। उसका अन्त ही नही है। मन को प्रवाहित करने वाले झरने भीतर मे इतने है कि उनकी गणना मुश्किल होती है। बाहर और भीतर के प्रभावो से मन को बचाना, उसे स्वच्छ रखना, बहुत बडी समस्या है। दोनो से निपटना सरल, सहज नही है। साधक को इस दोहरी समस्या का सामना करना ही पडेगा, अन्यथा मन-शुद्धि असभव है। और कोई उपाय नही है।

मन शुद्धि के दो उपाय बतलाए है—सकल्प की दृढता और एकाग्रता का अभ्यास। आदमी का संकल्प नही होता अत. वह अपने कार्य मे सफल

भी नही होता । वह कल्पना ही कल्पना करता रहता है । कल्पना का कही अन्त नही आता । कल्पना को संकल्प में बदल दो । इतनी शक्तिशाली बन जाए कि वह कवच बन जाये, वज्र-पंजर बन जाए । इतना होने पर न बाहर का प्रभाव पड़ सकता है और न भीतर का प्रभाव पड सकता है । दोनो प्रभाव आते है, परस्पर टकरा कर चले जाते है । अपना प्रभाव नही दे पाते। जब कवच और वज्रपजर का निर्माण हो जाता है तब भीतरी शक्तियो का या बाहरी शक्तियों का कितना ही आक्रमण हो, भीतर मे कुछ भी प्रभाव नही हो सकता ।

प्रश्न होता है कि सकल्प को दृढ बनाने का उपाय क्या है ? इसका उत्तर है कि एकाग्रता के अभ्यास से सकल्प दृढ बनता है । जैसे-जैसे एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है, सकल्प-शक्ति दृढ होती जाती है ।

श्वास-प्रेक्षा एकाग्रता का अभ्यास है । जिसने श्वास को देखना प्रारंभ कर दिया, उसने मन की शुद्धि का क्रम शुरू कर दिया ।

हम लडना नही जानते । लडने की हमारी पद्धति दूसरी है । दुनिया मे ऐसा एक भी व्यक्ति नही है । जिसके मन मे विकल्प न आए, बुरे विचार न आए, चचलता या अशुद्धि न आए । बुरे विचार या विकल्प आते ही साधक निराश हो जाता है और सोचता है, यह क्या ? इतने दिनो तक अभ्यास किया, कुछ भी फल नही मिला । आठ-दस दिन हो गए, दो-चार महीने या वर्ष दो वर्ष हो गए ध्यान करते-करते, पर विकल्पो का ताता टूटता ही नही, वैसे ही उनका प्रवाह चल रहा है । लगता है, ध्यान धोखा है । इसमें कोई सार नही है । आज से ध्यान को तिलाजलि देता हू ।

आगे बढने का या विकल्प से छुटकारा पाने का यह निराशायुक्त विचार उपयुक्त नही है । तब तक भीतर का खजाना पूरा खाली नही हो जाएगा तब तक विकल्पों का ताता कैसे टूट सकता है ? इतने बडे भण्डार को खाली होने मे एक-दो वर्ष तो क्या, अनेक वर्ष लग सकते हैं । किसी व्यक्ति का भडार यदि कम भरा है तो उसे खाली होने मे अधिक समय नही लग सकता ।

बुरे विचारो या विकल्पो से छुट्टी पाने का एकमात्र-मार्ग है—ध्यान। जो व्यक्ति एकाग्रता का अभ्यास करता है । उसमे इतना अन्तर जरूर आ जाता है कि वह आने वाले विकल्पो मे उलझता नही । विचार या विकल्प आते है, वह द्रष्टाभाव से उन्हे देखता है । वे चले जाते है । बुरे विचार आए तो आने दे, प्रारम्भ मे उन्हे रोके नही । चित्त को श्वास पर टिका दे। श्वास को देखने लग जाए । इधर बुरा विचार चल रहा है, उधर श्वास-दर्शन चल रहा है । प्रारम्भ में बुरा विचार शक्तिशाली होगा, श्वास-दर्शन कमजोर होगा । जैसे-जैसे अभ्यास बढेगा, द्रष्टाभाव का विकास होगा तब

विचार-शून्यता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। बुरे विचार राक्षसो के सदृश हैं। इन राक्षसो के साथ लडने से शक्ति क्षीण होगी। इन राक्षसो और प्रेतो को आने दे। उनका विरोध न करे। आप अपना काम करते रहे। एक दिन ऐसा आएगा कि बुरे विचार या विकल्प रूपी राक्षसो की शक्ति क्षीण हो जाएगी और व बेचारे शक्ति-शून्यता का अनुभव करने लग जाएगे। इस प्रक्रिया मे श्वास-दशन शक्तिशाली होता जाएगा। वे राक्षस मर जायेगे और श्वास-दर्शन चिरजीवी बनता जाएगा।

हमे श्वास-दर्शन की प्रक्रिया को भी सही सदर्भ मे समझना होगा। गलत-विधि निराशा पैदा करती है। विधि-पूर्वक यदि श्वास-दर्शन, चैतन्य-केन्द्र दर्शन, शरीर-दर्शन किया जाए तो एकाग्रता पुष्ट होती जाती है और तव भी भीतर मे उभरने वाली वृत्तिया, चचलता, बुरे विचार, बुरे भाव इन सब की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारी विधायक शक्ति का विकास होता है और ऋणात्मक या निषेधात्मक शक्ति कमजोर हो जाती है। आप देखे, मन सबके पास है। फिर भी एक व्यक्ति अच्छा और एक व्यक्ति बुरा, यह क्यो ? एक घटा हम अच्छे विचार करते है और एक घटा बुरे विचार करते है, यह क्यो ? यह अन्तर क्यो ? काल और व्यक्ति का यह अन्तर सूचित करता है कि मन का कोई दोप नही है। हमने मन को भयप्रूफ नही बनाया। उसके सकल्प और एकाग्रता को हमने पुष्ट नही किया। उसकी शक्ति का विकास नही किया। साधना के तीन बल है—मन का वल, वचन का बल और शरीर का वल। जैसे-जैसे मनका वल बढता है, शक्तिया विकसित होती जाती है और बाहर का प्रभाव कम होता जाता है। एकाग्रता और सकल्प-शक्ति का विकास होने पर—

- पुरानी आदते बदलती है, नई आदमी का निर्माण होता है।
- पुरानी आस्थाए बदलती है, नई आस्थाए जन्म लेती है।
- पुराने सस्कार छूटते है, नए सस्कार निर्मित होते हैं।

जैसे-जैसे सकल्प-शक्ति बढती है, वैसे-वैसे एकाग्रता का विकास होता है या जैसे-जैसे एकाग्रता बढती है, वैसे-वैसे सकल्प-शक्ति का विकास होता है। जैसे-जैसे सकल्प शक्ति वढती है, वैसे-वैसे मन की शक्ति का विकास होता है। मन तव पूर्ण सुरक्षित हो जाता है, उसका कवच वज्रमय वन जाता है, कोई उसे तोड नही सकता। तव वाहर से भी मन को प्रभावित नही किया जा सकता और भीतर से भी उसको प्रभावित नही किया जा सकता। मन उन भीतरी झरनो को कह देता है—अपना पानी और कही से वहाये। अव मै आपके पानी को स्वीकार करने की स्थिति मे नही हू। वाहर के निमित्तो को भी वह अस्वीकृति दे देता है। तव वह निश्चिन्त होकर अपना काम करने लग जाता है और साधक चैतन्य के महासागर मे डुवकिया लेते-लेते नही अघाता।

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से

एक विद्यार्थी ने कहा—मै स्मृति का विकास करना चाहता हू, एकाग्रता का विकास करना चाहता हू और अपनी कुछेक आदतो को वदलना चाहता हू । क्या यह सभव है ?

मैने कहा—इस दुनिया में असभव भी कुछ नही है और सभव भी कुछ नही है । दोनो सापेक्ष कथन है । हर वात सभव वन सकती है और हर बात असभव वन सकती है ।

उसने कहा—मुझे वताए कि क्या मेरे लिए ये सव सभव हैं ?

मैने पूछा—तुम यहां कितने दिन रहना चाहते हो ?

उसने कहा—आधे घटा का समय है । इससे अधिक समय नही है ।

मैंने कहा—तव सव असभव है । यह वुद्धि का लेखा-जोखा नही है कि एक प्रश्न पूछा, उत्तर दिया, समाधान मिला या न मिलने पर तर्क आगे वढा और वह वढता ही चला गया । यदि बुद्धि के स्तर पर इन प्रश्नो का तुम समाधान चाहते हो तो मै कहूगा कि सव असंभव है । यदि तुम प्रयोग के आधार पर कुछ करना चाहते हो, समय लगाना चाहते हो तो तीनो बाते सभव है ।

हमारे सामने सवसे वडा आयाम है—वुद्धि का । हमने वुद्धि को इतना अतिरिक्त मूल्य दे दिया है कि हम मानने लग गए—इस ससार मे बुद्धि से वढकर और कुछ भी नही है । वास्तव मे वुद्धि का इतना महत्त्व नही है, इतना वडा स्थान नही है । किन्तु जव छोटे को वडा स्थान दे दिया जाता है और वडे को छोटा स्थान दे दिया जाता है तो वहा नाना प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है । यदि हम आज की समस्याओ का विश्लेपण करे तो हमे ज्ञात होगा कि अनेक समस्याओ का जन्म इसलिए हुआ है कि हमने बुद्धि को अतिरिक्त मूल्य दिया है ।

आज का आदमी वदलना भी बुद्धि के स्तर पर चाहता है । वह स्मृति का विकास भी वुद्धि के स्तर पर चाहता है और एकाग्रता का विकास भी वुद्धि के स्तर पर चाहता है । प्रयोग के स्तर पर जो घटित हो सकता है, उसे वुद्धि के स्तर पर कैसे घटित किया जा सकता है ? यह बिलकुल असंभव वात है । वुद्धि का काम है विश्लेपण करना, निर्णय करना, तर्क करना और सदेह करना । जहां कही वुद्धि का व्यायाम होगा, वहा सवसे पहले सदेह होगा—यह क्यों हो रहा है ? ऐसा क्यो कहा जा रहा है ? क्या रहस्य है ?

बुद्धि हो और सदेह न हो, यह असभव है। बुद्धि को सदेह करना ही होता है। कोई भी राजनीतिज्ञ व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की वात पर सदेह न करे तो वह कुशल राजनीतिज्ञ नही कहला सकता। वह कुशल कूटनीतिज्ञ नही हो सकता। कूटनीतिज्ञ की कुशलता इसी मे है कि वह प्रत्येक बात को सदेह की दृष्टि से देखे, किसी पर भरोसा न करे और यह वात जनता के गले उतार सके कि विरोधीपक्ष वालो की बाते निराधार है, झूठी हैं। उनके शब्दकोश मे 'विश्वास' शब्द होता ही नही।

पिता-पुत्र नीचे खडे थे। पिता ने कहा—बच्चे! छत पर जाओ। बच्चा उछलता-कूदता छत पर चढा। पिता ने कहा—बेटे! छत से कूदो, मैं अपने हाथो पर तुम्हे झेल लूगा। बेटा बोला—पिताजी! कही जमीन पर गिर पडा तो चोट लगेगी, कूदने मे भय लगता है। पिता बोला—बेटे! डर मत। मै नीचे नही गिरने दूगा। हाथो मे थाम लूगा। तुम भय को मन से निकाल दो। बच्चे ने पिता पर विश्वास कर छलाग लगा दी। पिता ने पहले से ही हाथ पसार रखे थे। ज्योही बच्चे ने छलाग लगाई पिता ने हाथ समेट लिए। बच्चा धडाम से जमीन पर गिरा। चोट आई, पर वह बच गया। बच्चे ने रोते हुए कहा—पिताजी! यह आपने क्या किया? पिता ने कहा—बेटे! मै तुम्हे एक महत्त्वपूर्ण सीख देना चाहता था, वह आज मैने तुम्हे दे दी। तुम नही जान सके। मैं यह सीख देना चाहता था कि यह दुनिया बडी विचित्र है। इसमे भरोसा अपने बाप का भी नही करना चाहिए।

यह दुनिया व्यवहार पर चलने वाली दुनिया है। यदि बुद्धि के स्तर पर चलने वाली दुनिया है, जहा यह पाठ पढाना आवश्यक हो जाता है कि भरोसा बाप का भी नही करना चाहिए।

बुद्धि का काम है सदेह पैदा करना। सदेह के बाद तर्क पैदा होता है। सदेह बुरा नही है। तर्क भी बुरा नही है। ये बुरे कैसे हो सकते हैं। जब हमे बुद्धि की दुनिया मे जीना है तो सदेह करना होगा। यदि यहा सदेह नही करेगे तो बहुत बडा धोखा हो सकता है और तर्क न हो तो भी धोखा हो सकता है। तर्क बहुत बडा आधार है। इस आलम्बन के द्वारा व्यक्ति अनेक समस्याओ से पार पा जाता है। यदि तर्क न हो तो सभी न्यायालय बन्द हो जाएगे। न्यायालयो का सारा काम तर्क के आधार पर चलता है। जिसका तर्क बलवान् होता है वह झूठ होने पर भी जीत जाता है और जिसका तर्क लचीला होता है वह सच्चा होने पर भी हार जाता है। न्यायालय का आधार है तर्क, तर्क और तर्क। यदि तर्क न हो तो न्यायालयो के दरवाजे बन्द हो जाएंगे। विभिन्न सम्प्रदायो का अस्तित्व तर्क के आधार पर ही टिका हुआ है। आत्मा है या नही—यह तर्क के आधार पर चल रहा

है । आज से नही, हजारो-हजारो वर्षो से आत्मा को सिद्ध करने के लिए तर्क दिए जा रहे है और आत्मा के अस्तित्व को नकारने के लिए भी तर्क दिए जाते है । एक वर्ग आत्मा को सिद्ध करने के लिए दरवाजा खटखटा रहा है तो दूसरा वर्ग उसी निष्ठा और पराक्रम से आत्मा को असिद्ध करने के लिए दरवाजा खटखटा रहा है । यह चल रहा है और बुद्धि के साम्राज्य मे यह अनन्त काल तक चलता रहेगा । यदि तर्क न हो तो सम्प्रदाय टिक नही सकते । यदि तर्क न हो तो संघर्ष और लडाइया चल नही सकती । लडाइयो का चलना जरूरी होता है। समाज हो और लडाई न हो तो वह कैसा समाज ! लडाइयो के आधार पर बहुत सारे निकम्मे लोग भी काम के बन जाते हैं । वे लडाई के काम मे लग जाते हैं । बहुत सारे लोग लडाइयो के आधार पर अपनी जीविका चला रहे है । दो व्यक्तियो को आपस मे भिडा देते है और अपनी जीविका कमा लेते है । कुछ लोग कहते है—इन दो की लडाई मिट सकती है, पर बिचौले मिटाना नही चाहते । अगर मिट जाए तो उनकी रोजी-रोटी बन्द हो जाए । इस आधार पर हजारो वकील बेकार हो जाते है । यह सारा तर्क का चमत्कार है । इसे हम बेकार कैसे माने ?

बुद्धि का क्रीडा-प्रागण बहुत विशाल है । जितने खिलाडी ओलम्पिक मे इकट्ठे नही होते उनसे हजार गुना खिलाडी बुद्धि के क्रीडा-प्रागण मे एकत्रित होते है और खेल खेलते है ।

एक होता है गुरु और एक होता है शिष्य । शिष्य गुरु का होता है । गुरु को स्वीकार करना दुनिया का सबसे बडा स्वीकार है । मनुष्य अपने माता-पिता और पत्नी की बात को ठुकरा सकता है, किन्तु गुरु की बात को ठुकराना नही चाहता । गुरु देवता होता है । गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और भगवान् कहा गया । गुरु को सब कुछ कहा गया । ऐसी स्थिति मे उनकी बात को कैसे ठुकराया जा सकता है ? परन्तु जब तर्क बीच मे आता है तब आदमी गुरु की बात को भी ठुकरा देता है ।

एक कहानी है ।

गुरु और शिष्य दोनो सो रहे थे । वर्षा का मौसम था । गुरु ने करवट बदलकर शिष्य से कहा—बाहर जाकर देखो कि वर्षा आ रहा है या रुक गई है ? शिष्य आलसी था । उठने की इच्छा नही थी । उसने तर्क का प्रयोग करते हुए कहा—गुरुदेव ! अभी-अभी यह कुत्ता बाहर से आया है । आप इसके शरीर पर हाथ फेर कर देख ले । यदि इसका शरीर भीगा हुआ है तो वर्षा आ रही है, यदि वह सूखा हो तो वर्षा बद हो गई है । सरल उपाय है ।

थोडी देर बाद गुरु ने कहा—शिष्य रात बहुत चली गई है । नीद नही ले पा रहा हू । दीये का प्रकाश सीधा मुह पर पड रहा है । उठो, दीये को बुझा दो । शिष्य बोला—गुरुदेव ! दीया क्यो बुझाए, आप अपने मुह पर

कपडा ओढ लें, प्रकाश नही दीखेगा, नीद आ जाएगी।

कुछ समय वीता, हवा तेज चलने लगी। गुरु ने कहा—'अरे' उठकर दरवाजा वन्द कर दो। सर्दी के मारे ठिठुर रहा हू।' शिष्य ने सोते-सोते ही कहा—गुरुदेव! मै दरवाजे से वहुत दूर सोया हुआ हू। आप पास मे ही है। पैरो से धक्का दे, दरवाजे बन्द हो जाएगे। गुरु ने वैसा ही किया। पर तेज हवा से फिर दरवाजे खुलने लगे। गुरु ने कहा—शिष्य! अब उठकर दरवाजे के आगल लगा दो। शिष्य तडाक से वोला—तीन काम मैंने कर दिए तो एक काम आप ही कर दे।

जव तर्क बीच मे आता है तब गुरु और शिष्य की बात भी कही रह जाती है। सचमुच एक वहुत बडा प्रश्न है। हम स्वय आत्म-विश्लेषण करे कि हमारे जीवन मे हर क्षण तर्क आडे रहता है। जहा तर्क आता है वहा समस्या उलझ जाती है। तर्क के द्वारा सम्भवत पाच प्रतिशत समस्याए सुलझ सकती है, पर पच्चानवे प्रतिशत समस्याए और अधिक उलझ जाती है। वह गाठ घुलती जाती है। वह रेशम की गाठ बन जाती है, जो खोलने पर भी नही खुलती।

मैंने उस भाई से कहा—तुम तर्क के आधार पर यदि वह काम करना चाहते हो तो वह असभव है। प्रयोग के स्तर पर आओ, अनुभव के स्तर पर उतरो, वह बात सभव हो जाएगी।

आदमी बदलना चाहता है, सुधरना चाहता है, विकास करना चाहता है, पर यह सब प्रयोग किए विना नही हो सकता। ध्यान का जीवन प्रयोग का जीवन है। कोई व्यक्ति यदि वुद्धि के स्तर पर उसे समझना चाहे तो वह कभी नही समझ सकेगा। आज तक जिस किसी व्यक्ति ने ध्यान को समझा है, उसे प्रयोग के आधार पर ही समझा है, ज्ञान के आधार पर नही, विवेचना के आधार पर नही। शिविरार्थिनी एक वहिन ने अभी-अभी कहा—मैने जीवन मे यह कल्पना कभी नही की थी कि ऐसा आनन्दमय जीवन भी जीया जा सकता है। जीवन का ऐसा आनन्दमय पक्ष भी है। पर मैने प्रयोग किया और उसका प्रत्यक्षत अनुभव कर लिया। मैं पूछना चाहता हू, क्या तर्क के आधार पर यह वात समझी जा सकती है? एक भाई ने कहा—मैने यह कभी नही समझा था कि मेरा इतना चचल चित्त भी कभी एकाग्र हो सकता है। क्या यह वात तर्क के आधार पर समझी जा सकती है, समझाई जा सकती है? कभी नही समझी जा सकती। इसको केवल प्रयोग के स्तर पर या अनुभव के स्तर ही समझा जा सकता है।

अपने आपको वदलने का, व्यक्ति के रूपान्तरण का और आदतो के परिवर्तन का सवसे वडा उपाय है अनुभव के जगत् मे प्रवेश पाना। यह अनुभव का जगत् ही ध्यान का जगत् है और यह ध्यान का जगत् ही अनुभव

का जगत् है ।

आदमी क्यो विगडता है, क्यो सुधरता है—इस पर भी हम विमर्श करे । विगडने के कारण भी भीतर मौजूद हैं और सुधरने के हेतु भी भीतर मे होता है । आदमी बुरा होता है भीतर के कारणो से और अच्छा भी होता है भीतर के कारणो से । वाहरी कारणो से न विगडता है और न सुधरता है । हमे भीतर प्रवेश कर उन कारणो को खोजना होगा, शरीर मे अनेक ग्रथिया है । वे मनुष्य को वनाने-विगाडने मे वहुत काम करती है । एक शरीर-शास्त्री जानता है कि व्यक्ति के निर्माण मे और ध्वस मे ग्रथियो का कितना वडा हाथ होता है ? वह जानता है कि इनमे नाडी-सस्थान का क्या दायित्व होता है ? जब तक हम इन सब पर ध्यान नही देंगे तव तक सुधरने-सुधारने की समस्या का समाधान नही होगा ।

रोम मे घटित एक घटना है । दस वर्ष का एक वालक अपराधी वन गया । अपराध करना उसका स्वभाव जैसा वन गया । पचास वर्ष तक उसने अनेक अपराध किए । चालीस वार जेल गया । यातनाए सही । पर वह अपराध को छोड नही सका । उसके अपराध-वृत्ति के कारणो की खोजे प्रारंभ हुई । अनेक वैज्ञानिक सग्लन हुए । उससे पूछताछ प्रारभ हुई । एक वैज्ञानिक ने पूछा—क्या तुम्हे कभी चोट आई ? उसने कहा—एक वार कार का एक्सीडेन्ट हो गया था । कनपटी के पास चोट आई थी । वैज्ञानिक ने उसकी कनपटी का एक्सरे लिया । उससे ज्ञात हुआ कि कनपटी के पास एक नाडी मे कुछ फसा हुआ है । ऑपरेशन किया । उस नाडी मे काच का सूक्ष्म टुकडा फसा हुआ था । वह जव भी अवरोध पैदा करता, उस व्यक्ति मे अपराध की भावना उभरती, और वह कोई-न-कोई अपराध कर लेता । उस टुकडे को निकाल दिया गया । उसकी अपराध-वृत्ति समाप्त हो गई । वह एक सभ्य व्यक्ति की गिनती मे आ गया ।

हमारे शरीर मे कनपटी का भाग महत्त्वपूर्ण है । कनपटी के पास स्मृति-केन्द्र भरे पडे हैं । जो कनपटी को समझ लेता है वह स्मृति का काफी विकास कर लेता है ।

भीतर की खोज से वहुत सारे अपराध नष्ट हो जाते हैं ।

आज रोगी को कहा जाता है—तुम मनोवैज्ञानिक जाच कराओ । अपराधी को कहा जाता है—तुम किसी मनोवैज्ञानिक के पास जाकर मूल कारण की खोज कराओ । मनोवैज्ञानिक खोज आध्यात्मिक खोज है, भीतर की खोज है । मनोवैज्ञानिक वाहरी खोज को इतना महत्त्व नही देता । वह भीतर की खोज को महत्त्व देता है । मनोवैज्ञानिक खोज पूरी भीतरी खोज की प्रक्रिया है ।

पाश्चात्य देशो मे रोगो की डॉक्टरी जाच के साथ मनोवैज्ञानिक जाच

भी की जाती है। अनेक बीमारिया शारीरिक नही होती, वे मानसिक होती है, परन्तु शरीर मे अभिव्यक्त होने के कारण उन्हे शारीरिक बीमारिया मान लिया जाता है और उसी आधार पर उनकी चिकित्सा की जाती है। पर उपचार फलप्रद नही होता। रोग नही मिटता। मनोवैज्ञानिक उपचार होता है और वह रोग शात हो जाता है।

ध्यान की प्रक्रिया भीतरी खोज की प्रक्रिया है। शरीर-प्रेक्षा करने वाला साधक जब पैर से सिर तक एक-एक अवयव की प्रेक्षा करता है तब वह भीतर की गहराई तक पहुच जाता है। वह बाहरी खोज नही करता। वह भीतरी खोज करता है। उस समय प्राणशक्ति का ऐसा प्रवाह होता है कि शरीर के अवयवों के अवरोध मिट जाते हैं। असतुलित प्राणशक्ति सतुलित हो जाती है, विद्युत् का प्रवाह सतुलित हो जाता है। चैतन्य-केन्द्रो के अवरोध मिट जाते हैं।

एक आदमी शारीरिक श्रम करने वाला है। दूसरा मानसिक श्रम करता है। तीसरा दार्शनिक है जो सृष्टि की समस्याओ को सुलझाने मे लगा रहता है। चौथा वैज्ञानिक है जो नए-नए आविष्कारो के लिए सतत गहरे चिन्तन मे रहता है। चारो प्रकार के आदमी थकान का अनुभव करते है, तनावग्रस्त भी होते हैं। हम यह न माने कि बुरे चिंतन से ही तनाव पैदा होता है, अच्छे चिंतन से भी वह पैदा होता है। श्रमिक मे जो थकान और तनाव होता है, वह दार्शनिक पहलू मे उलझे हुए दार्शनिक और वैज्ञानिक पहलू मे उलझे हुए वैज्ञानिक मे भी होता है। वह भी थकान और तनाव से मुक्त नही हो सकता। क्योकि ये सारी शारीरिक क्रियाए है। जो भी व्यक्ति ज्यादा श्रम करेगा, विश्राम नही करेगा तो एड्रीनल कार्टेक्स पर उसका प्रभाव होगा। उससे हार्मोन्स का स्राव अधिक होगा। वह रक्त मे मिलेगा। उससे थकान पैदा होगी। जैसे ही एड्रीनल कार्टेक्स की सक्रियता बढती है, थाइमस सिकुडने लग जाता है। थाइमस ग्लेण्ड छाती के पास होता है। आनन्द-केन्द्र का सबध इस थाइमस ग्रथि से हो सकता है। थाइमस का कार्य बहुत महत्त्व-पूर्ण होता है किन्तु एड्रीनल कार्टेक्स की सक्रियता के कारण वह सिकुडने लग जाता है। शरीर के एक अवयव की क्रिया का प्रभाव दूसरे अवशव पर पडता है और तब सतुलन बिगड जाता है। शरीर मे पूरा सतुलन है, समन्वय है। एक व्यक्ति के चोट लगती है। पर चोट की क्षति को पूरा करने के लिए एड्रीनल की शक्ति उधर लग जाती है। अनुकूलन ऊर्जा भी उधर खपने लग जाती है। परिणाम यह होता है कि आतो मे छाले पड जाते है। पाचन का कोई दोष नही, किन्तु जो ऊर्जा आतो को मिलनी चाहिए थी वह ऊर्जा उस टूट-फूट मे, हड्डियो को ठीक करने मे लग गई। आतो को पूरी ऊर्जा मिली नही। उसमे छाले पड़ गए।

ऊर्जा का सतुलन, प्राणधारा का सतुलन और विद्युत् का सतुलन वना रहे, इस दृष्टि से ध्यान का वहुत वड़ा महत्त्व है। यह संतुलन वना रहता है तो व्यक्ति सुधरता है, आदतें बदलती है। आदतो के रूपान्तरण मे इन ग्रन्थियो के स्रावो का वडा योग होता है। ग्रन्थियो का स्राव सतुलित होता है तो आदतें अपने आप सुधरने लग जाती हैं।

ध्यान एक प्रयोगशाला है व्यक्तित्व को सुधारने की।

आचार्य श्री ने एक स्वर दिया—व्यक्ति सुधरे। आज का स्वर दूसरा है—समाज सुधरे। इस स्वर में व्यक्ति की वात को भुला दिया गया। किंतु अध्यात्म का यह स्वर नही हो सकता। समाज को सुधारा जा सकता है नियत्रण के द्वारा, कठोर अनुशासन के द्वारा। सुधारा जा सकता है—यह प्रयोग नही करना चाहिए किंतु कहना चाहिए 'उसे नियत्रित किया जा सकता है।' यह सचाई है कि कठोर नियत्रण के बावजूद भी व्यक्ति आज वहा का वहा है। बीसो, तीसो, पचासो वर्षो के नियंत्रण के बाद भी एक इन्च भी नही सरक पाया है। आज भी उसमे लालची मनोवृत्ति है। अधिनायकवाद या कठोर कानून होने पर भी वह भ्रष्टाचार करता है, स्मगलिंग करता है तथा और भी अनेक बुराइया करता है। साम्यवादी देश के लोगो मे आज फिर एक प्रश्न उभरा है कि इतना कठोर नियत्रण होने के वाद भी व्यक्ति वदला नही है। सामान्य स्तर पर ही नही, सरकारी स्तर पर भी इस वात को स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति वदला नही है। यह वडे आश्चर्य की बात है।

अध्यात्म का स्वर वहुत महत्त्वपूर्ण स्वर है। इसी स्वर मे यह गाया गया—'सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से'। व्यक्ति सुधर सकता है। उसका हृदय बदल सकता है। सुधारने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्म। इसके अतिरिक्त हृदय-परिवर्तन का कोई सशक्त माध्यम नही है।

एक भाई ने कहा—मै शिविर मे आया, साधना की। अब मैं ऐसा अनुभव करता हू कि मै अपने पूरे परिवार को शिविर मे भेजू। मैंने पूछा—क्यो? उसने कहा—यदि परिवार के सारे सदस्य सुधर जाते है तो मेरा जीवन बहुत शाति और आनन्दमय हो जाएगा।

यह सचाई है, जब व्यक्ति सुधरता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि मेरी आदते बदली है, मेरे आवेग कम हुए हैं, तब वह चाहेगा कि उसकी पत्नी भी आए, पुत्र भी आए, वे सब सदस्य आएं जो बदलना चाहते हैं। रूपान्तरण की अनुभूति जब व्यक्ति को स्वय को हो जाती है तब वह पूरे परिवार को बदला हुआ देखना चाहेगा, क्योकि उस स्थिति मे ही शांति वनी रह सकती है, घर की स्थिति ठीक हो सकती है।

ध्यान आदतो मे परिवर्तन लाने का सशक्त माध्यम है। 'तुलसी

अध्यात्म नीडम्' का यह 'प्रज्ञा-प्रदीप' आदतो को बदलने की प्रयोगशाला बना हुआ है। साधक आते है, साधना करते है और अपने आप मे कुछ परिवर्तन महसूस करते हैं।

आज के बडे मनोवैज्ञानिक भी आदतो को बदलने मे कठिनाई का अनुभव करते है। वे दवाइयो के द्वारा कुछ रासायनिक परिवर्तन कर इस दिशा मे कुछ सफल होते हैं, पर पूरी सफलता उनके हाथ नही लगती। दवाइया दे-देकर कब तक बदला जा सकता है? दवाइयो की भी एक सीमा है। वास्तव मे यदि हमारा अन्त करण बदल जाए, ग्रथियो के स्राव बदल जाए, जैविक, रासायनिक परिवर्तन हो जाए तो परिवर्तन आ सकता है।

यदि भावनात्मक प्रयोगो के द्वारा, एकाग्रता के द्वारा, प्राणशक्ति के द्वारा, मानसिक प्रक्रियाओ के द्वारा तथा श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के द्वारा स्वत हम रसायनो को बदलने मे सक्षम होते है तो फिर किसी दवाई की आवश्यकता नही रह जाती।

एक भाई शिविर मे है। वह बता रहा था कि उसने लगभग पचास हजार रुपये खर्च किए हैं अपने रोग को मिटाने के लिए। रोग था अनिद्रा का। अनेक प्रयत्न किए कि बिना नीद की गोली खाए नीद आ जाए, पर वैसा नही हुआ। शिविर की महिमा सुनी। लोगो के अनुभव सुने। शिविर मे रहा। अब ऐसा अनुभव हो रहा है कि नीद के लिए गोली आवश्यक नही है। बिना गोली लिए सुखपूर्वक नीद लेता है।

आचार्यवर ने आज ही कहा था कि गुरु का काम इतना-सा होता है कि वे अपने शिष्य को कोई अनुभूति करा दे। यदि शिष्य का अनुभव जाग जाता है तो उसे प्रेरणा की आवश्यकता नही रहती।

'सुधरे व्यक्ति'—यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्वर है। जिस दिन व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया गतिशील होगी, उस दिन से समाज-सुधार की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट हो जाएगी।

आज आवश्यकता है कि हम 'सुधरे-व्यक्ति' के सिद्धात को त्वरा से प्रचारित करे। आज की दुनिया मे सचार के बहुत साधन है। यदि योजना हो, अनुभव हो और बुद्धि हो तो बहुत कुछ किया जा सकता है और यदि तीनो की कमी हो तो कुछ भी नही हो सकता।

व्यक्ति-सुधार का स्वर अणुव्रत के साथ उच्चारित हुआ। जिस दिन अणुव्रत आन्दोलन का शुभारम्भ हुआ उसी दिन से यह स्वर शक्तिशाली बना। 'सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से'—यह हमारा एक लक्ष्य है। किन्तु समाज के सुधारको से हमारा कोई विवाद नही है। आज के साम्यवादी और समाज-वादी लोगो से हमारा कोई विरोध नही है। वे भी समाज को सुधारना चाहते है और हम भी समाज को सुधारना चाहते है। दोनो की प्रक्रिया मे

अन्तर है। वे सीधा समाज को सुधारना चाहते है, किन्तु अध्यात्मवादी, व्यक्ति को सुधार कर समाज को सुधारना चाहते है। भविष्य ही वता सकता है कि कौन-सी प्रक्रिया सही है ? यदि हम तथ्यो का सही विश्लेपण करते है तो यह सचाई वहुत स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्ति को वदले बिना समाज को नही वदला जा सकता। साम्यवादी पार्टी की रिपोर्ट का अंश पढा। उसमे एक टिप्पणी थी—इतने वर्षों के प्रयत्न के वाद भी लगता है कि व्यक्ति वदला नही है। वहा व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर दिया गया था, पर फिर उसे आशिक रूप से स्वीकार करना पडा। साम्यवादी व्यवस्था मे जहा भ्रष्टाचार की कल्पना नही की जा सकती वहा करोडो रुबल का घोटाला पकडा गया है। न जाने कितने लोगो को फासी दी गई, मारा गया। अपराधी को मार दो, सुधार हो जाएगा, यह आज मान्य नही है। इस पर काफी चिन्तन हो रहा है और फिर से इस विन्दु पर पहुचा जा रहा है कि व्यक्ति को भीतर से वदलना चाहिए।

दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धात प्रतिपादित किया था कि हृदय-परिवर्तन के विना धर्म नही हो सकता। यह इतना महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि आज का समूचा युग इस सचाई को स्वीकार करता जा रहा है—हृदय-परिवर्तन के विना धर्म नही हो सकता। हृदय-परिवर्तन के विना समाज नही सुधर सकता। ये वाते जव स्पष्ट होगी तब अध्यात्म की ज्योति प्रज्वलित होगी और तव व्यक्ति सुखी वनेगा, समाज सुखी बनेगा। समाज सुखी वनेगा तो राष्ट्र समृद्ध, स्वस्थ और सुखी वनेगा।

ध्यान : एक परम पुरुषार्थ

एक था समाजशास्त्री और दूसरा अर्थशास्त्री। दोनो उपस्थित हुए और चिन्ता के स्वर मे बोले—'धर्म ने पहले ही देश को निठल्ला बना दिया है। शताब्दियो से धर्म करने वाले लोग निकम्मे होकर भाग्य के भरोसे बैठे है। वे कोई पुरुपार्थ नही करते, श्रम नही करते। कतराते है श्रम से, काम करने से। जैसा भाग्य मे लिखा है वैसा हो जाएगा, यह मानकर चल रहे हैं। उनका सारा पराक्रम अस्त हो गया है। उनके पुरुपार्थ का प्रदीप प्राय बुझ गया है। धर्म ने यह स्थिति पैदा कर दी और अब यह ध्यान का प्रचार और चल पडा। लोग इससे और अधिक निठल्ले बन जाएगे। जैसे-जैसे ध्यान के प्रचार का विकास होगा, लोग आखे मूद कर बैठ जाएगे, निकम्मे हो जाएगे। जो आखे मूद कर बैठता है उसे शाति का अनुभव होता है, आराम मिलता है, आनन्द की अनुभूति होती है। यह सारा निठल्लापन पैदा करता है। जैसे-जैसे यह बढेगा वैसे-वैसे गरीबी बढेगी, समस्याए बढेगी। यह राष्ट्र और समाज के लिए कल्याणकारी नही होगा, हितकारी नही होगा। इस प्रवृत्ति को रोक दिया जाना चाहिए।

मैने सुना। उनकी चिन्ता को देखते हुए लगता था कि वे कोई कृत्रिम बात नही कह रहे है। वे एक सचाई का अनुभव कर रहे हैं और उसको मानसिक व्यथा के साथ प्रकट कर रहे है। इस स्थिति मे ध्यान की प्रक्रिया को चलाना एक प्रश्न है। यह प्रश्न उन दोनो व्यक्तियो के मन का ही नही है, किसी भी समझदार व्यक्ति के मन मे यह उभर सकता है। क्या घटों तक, दिनो तक आखे बद कर निठल्ला होकर बैठे रहना, कुछ भी उत्पादक श्रम नही करना, इस गरीब राष्ट्र के प्रति अन्याय नही है? क्या अध्यात्म की चर्चाओ से राष्ट्र का हित हो सकता है? क्या इससे समाज का हित हो सकता है?

इस प्रश्न का उभरना सहज है। यह प्रश्न तब तक उभरता रहेगा जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण एकागी रहेगा। वे सारे प्रश्न और सारी समस्याए जो यथार्थ को छूती है या नही भी छूती, इसीलिए जीती हैं कि वे सब टूटे हुए प्रश्न है, टूटी हुई समस्याए हैं। ये प्रश्न जुडे हुए नही है। ये समस्याए जुडी हुई नहीं है।

विज्ञान यह मानता था कि जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र ये सब पृथक्-पृथक् हैं। यही मानकर सब शास्त्रो का स्वतत्र

रूप से अध्ययन किया जाता था। इस अध्ययन के आधार पर जो निर्णय लिए गए, वे सही अवश्य थे, पर इनसे पूरा समाधान नही मिला। वैज्ञानिकों का चिन्तन आगे वढा। आज वे मानते हैं कि वे सारी शाखाए इन्टर्कनेक्टेड हैं, परस्पर जुडी हुई है। जव तक इनका समवेत अध्ययन नही होगा, सारी शाखाओ को जोडकर नही देखा जाएगा, तव तक वास्तविकता हाथ नही लगेगी। एकागी दृष्टि के द्वारा लिए गए सारे निर्णय अपने आप गलत होते चले जा रहे है। आज सारी शाखाओ का एक साथ अध्ययन करने का प्रयत्न चल रहा है। स्याद्वाद का दृष्टिकोण विज्ञान के क्षेत्र मे प्रवेश पा रहा है। वह कहता है, तोडकर मत देखो। एक वस्तु के अनन्त पहलू है। तुम जितना देख सको, सापेक्ष देखो। एक-एक पहलू को देखने से निर्णय तक तो पहुचा जा सकता है, परन्तु वह सही निर्णय नही होगा, पूरा निर्णय नही होगा। वह निर्णय नैर्यात्रिक नही होगा, ठेठ पहुचाने वाला नही होगा। वह समस्या के पार पहुचाने वाला नही होगा। समस्या के पार तक तभी पहुंचा जा सकता है जव हमारा अध्ययन सभी पहलुओ से जुड़ा हुआ हो और उसी के आधार पर कोई निर्णय निकले।

समाजशास्त्री का एक निर्णय होता है, अर्थशास्त्री का एक निर्णय होता है। अध्यात्मशास्त्री और मानसशास्त्री का भिन्न निर्णय होता है। ये सारे निष्कर्ष यदि बटे हुए हो, उनके वीच कोई अभेद्य दीवार हो तो वे सव गलत होगे। कोई भी निर्णय सपूर्ण दृष्टि से सही नही होगा। वे सव एकागी होगे। वे सव सही तभी होगे जव वीच की दीवार तोड़ दी जाए और सवको सापेक्षता के सूत्र से जोड दिया जाए। माला तभी बन सकती है जव प्रत्येक मनके मे एक धागा पिरोया हुआ हो। मनके अलग-अलग हैं, पर धागा एक हो तो माला वन जाती है। यदि धागा न हो तो मनका, मनका ही रहेगा, माला नही वनेगी। माला के लिए एक सूत्र का होना जरूरी है। सचाई को पाने के लिए एकसूत्रता को पाना वहुत जरूरी है।

एकागिता के कारण ध्यान के प्रति यह धारणा वन सकती है कि ध्यान करने का अर्थ है—निकम्मा रहना, समय का अपव्यय करना। जिसने केवल समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र को पढा है, उसके मन मे यह विकल्प उठ सकता है। ऐसा विकल्प उठना अस्वाभाविक नही है, स्वाभाविक और यथार्थ है। क्योकि वह केवल समाजवादी है, केवल अर्थशास्त्री है। वह अध्यात्म के रहस्य को नही जानता। जो समाजशास्त्री है, उसे अध्यात्मशास्त्री भी होना जरूरी है। जो अर्थशास्त्री है, उसे अध्यात्मशास्त्री भी होना जरूरी है। जो अध्यात्मशास्त्री या धर्मशास्त्री है, उसे अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री भी होना नितान्त आवश्यक है। यदि वह अर्थशास्त्र को नही जानता तो कभी-कभी धर्म के विपय मे ऐसी वेवुनियादी वाते भी कह डालता है, जिनका समाज के

साथ कोई मेल नही बैठता, कोई सगति नही होती। उसका उपदेश केवल आकाशी उडान रह जाता है। व्यवहार के धरातल पर वह कभी जीवित नही रह पाता। वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। प्रत्येक पहलू को जानना बहुत आवश्यक होता है। इसलिए प्रत्यक्ष द्रष्टा को अनन्तचक्षु कहा गया है। एक चक्षु से काम नही चलता, दो से भी काम नही चलता और तीसरा नेत्र खुल जाने पर भी काम नही चलता। जब अनन्तचक्षु खुलते है, तभी सत्य हस्तगत होता है। तब न अर्थशास्त्र बचता है, न कामशास्त्र बचता है और न समाजशास्त्र बचता है। कुछ भी नही बचता। सबका समावेश हो जाता है। इसीलिए एक सिद्धात स्थिर हुआ—ज्ञेय सब कुछ है। ससार मे ऐसा कुछ भी नही है, जो ज्ञेय न हो। किसी को ज्ञेय की सीमा से परे नही किया जा सकता। जहा ज्ञेय का प्रश्न है वहा कोई भी अछूत नही है। वहा सवर्ण और अ-सवर्ण का भेद नही है। वहा अच्छे-बुरे, हितकर-अहितकर का प्रश्न नही है। ज्ञेय की दृष्टि मे जितना मूल्य चेतन तत्त्व का है उतना ही मूल्य पुद्गल का है। पुद्गल भी ज्ञेय और आत्मा भी ज्ञेय। मोक्ष की आत्मा भी ज्ञेय और नारकीय यातना भुगतने वाली आत्मा भी ज्ञेय। भव्य आत्मा भी ज्ञेय तो अभव्य आत्मा भी ज्ञेय। कोई अन्तर नही आता। अन्तर आता है हेय और उपादेय के प्रश्न पर।

ध्यान आदमी को निकम्मा बनाता है—यह एक दृष्टि है। एक घटा ध्यान मे बैठने वाला साधक कोई उत्पादक श्रम नही करता, न खेती करता है और न कपडा बुनता है। यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। व्यक्ति श्रम करता है शक्ति से। शक्ति के अभाव मे आदमी कोई काम नही कर सकता। काम होता है एकाग्रता से। चचल आदमी काम मे कभी सफल नही हो सकता। एकाग्रता और शक्ति—ये दोनो कार्य की दक्षता के लिए बहुत मूल्यवान् है। काम करना एक बात है और दक्षता होना दूसरी बात है। आज के विज्ञान ने दक्षता के विकास का सूत्र दिया। यह उसकी अमूल्य देन है। काम पहले भी होता था, पर दक्षता का विकास आज जितना है, उतना पहले नही था। जो काम पहले दस घटो मे होता था, आज वह दस मिनट मे निपटाया जा सकता है।

लोग कहते है जापान ने बहुत प्रगति की है। प्रश्न हो सकता है कि कारण क्या है। एक दिशातरण हुआ है। उनकी दिशा बदली है। उसका मूल कारण है एकाग्रता। जापानी लोगो ने ध्यान के द्वारा बहुत लाभ उठाया। वे स्वय यह स्वीकार करते है कि जापान के लोग जब से ध्यान करने लगे हैं, उन्होने शरीर-बल पाया है, मनोबल पाया है।

अनेक प्रयोग चलते है। ध्यान के विशेष प्रयोग करने वाला मजबूत ईंटे हाथ मे लेता है और उनको चूर-चूर कर देता है।

के द्वारा विकसित हुई है। लड़ने की कला विकसित हुई है। एक निहत्था आदमी शस्त्र वाले व्यक्ति के साथ लड़ सकता है और विजय पा लेता है। यह भी ध्यान का प्रयोग है।

जापानी लोगो ने ध्यान के द्वारा मनोबल पाया है और अनुशासन पाया है। अनुशासन का इतना विकास किया कि जीवन का विसर्जन हसते-हसते कर देते हैं। इतना अनुशासन कि वे काम कभी बन्द नही करते। वे हडताल करते है पर काम बन्द नहीं करते। हडताल का प्रतीक है हाथ पर काली पट्टी बाध देना। यह क्रम दसो दिन तक चलता है पर काम कभी बद नही होता। यह अनुशासन कहा से विकसित हुआ ? काम करने की प्रखरता कहां से आई ? यह सब एकाग्रता और ध्यान से प्राप्त हुआ है।

जिस राष्ट्र के नागरिक ध्यान नही करते, वे शक्ति-सम्पन्न कभी नही हो सकते। आज का प्रत्येक वैज्ञानिक, जो गहराइयो मे डुबकिया लगाता है, वह कम ध्यानी नही है। बिना ध्यान या एकाग्रता के नए तथ्य उद्घाटित नही होते। ध्यान की एक ही पद्धति नही है, एक ही प्रकार नही है। अनेक पद्धतिया हैं, अनेक प्रकार है। कुछ पद्धतिया अभ्यास करने से हस्तगत होती है और कुछ अनायास, अपनी पूर्वकृत योग्यताओ से उतर आती हैं।

न्यूटन बहुत बडा वैज्ञानिक था। एक बार घोडे पर चढकर जा रहा था। चढ़ाई आई। वह घोडे से नीचे उतरा। लगाम हाथ मे लेकर चल रहा था। दिमाग मे कोई प्रश्न उभरा। उसे सुलझाने लगा। विचारो के जाल मे उलझता गया। गति धीमी हो गई। घोडा मंदगति से चलते-चलते ऊब गया। सर हिलाया। लगाम निकल गई। घोडा भागता हुआ घर आ गया। न्यूटन घोडे की लगाम पकडे अभी भी उसी गति से चल रहा था। उसे पता ही नही चला कि घोडा भाग गया है और उसके हाथ मे केवल लगाम है। घर पहुंचा। घोडे को बाधने के लिए तैयार हुआ। ध्यान बदला। उसने देखा, हाथ मे लगाम है, घोड़ा तो है ही नही। घोडा अस्तबल मे बधा हुआ है।

क्या इसे हम एकाग्रता नही कहेगे ? उसका मन सभी विषयो से हटकर एक ही विषय मे लग गया। यह एकाग्रता है। चेतना का एक ही प्रवाह मे प्रवाहित हो जाना एकाग्रता है। कोई भी व्यक्ति गहरी समस्या मे उलझता है तब वह ध्यान की स्थिति मे चला जाता है। गहरी एकाग्रता सधे बिना सूक्ष्म सत्य का ज्ञान नही हो सकता।

शक्ति का विकास और एकाग्रता का विकास ध्यान के द्वारा ही हो सकता है। हमारे पास दो शक्तिया है—एक है ज्ञान की शक्ति और दूसरी है क्रिया की शक्ति। एक है ज्ञानात्मक शक्ति और दूसरी है क्रियात्मक शक्ति।

इन दोनो शक्तियो का विकास ध्यान के द्वारा हो सकता है। इन शक्तियो के विकास मे तीन बाधाएं है—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और प्रभाव की बीमारी। जब शरीर बीमार होता है तब ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तिया सो जाती हैं, ठंडी पड जाती है। इससे भी खतरनाक है मन की बीमारी। जब मन आहत होता है, उसे कोई आघात लगता है तब पैर वही रुक जाते है। एक आदमी बहुत अच्छा काम करता है। उसे कोई कह देता है—गधे हो, बेवकूफ हो। यह भी कोई काम करने का तरीका है? इतना सुनते ही उसके मन मे आग सुलग जाती है, काम करने की भावना टूट जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती है।

महाभारत का युद्ध हो रहा था। एक ओर अर्जुन और उसके सारथी थे कृष्ण। दूसरी ओर कर्ण और उसका सारथी था शल्य। युधिष्ठिर ने शल्य से कहा—तुम हमारे विरुद्ध हथियार जरूर उठाना, पर मेरी एक बात मानना, जब भी कर्ण प्रहार करे तब कहना—यह भी कोई प्रहार होता है! तुम प्रहार करना जानते ही नही। बस, इन वाक्यो को दोहराते रहना। शल्य ने युधिष्ठिर की बात स्वीकार कर ली। युद्ध प्रारम्भ हुआ। कर्ण के प्रत्येक प्रहार पर शल्य कहता—यह भी कोई प्रहार है? तुम प्रहार करना जानते ही नही। इधर अर्जुन के प्रत्येक प्रहार पर कृष्ण कहते—वाह! कैसा प्रहार किया है! वाह! क्या निशाना साधा है! प्रत्येक वार पर कर्ण हतोत्साहित होता और अर्जुन प्रोत्साहित होता। कर्ण का बल क्षीण होता गया, उसकी शक्ति टूटती गई, वह शक्तिहीन हो गया। अर्जुन की शक्ति बढ़ती गई। वह पहले से अधिक शक्तिशाली हो गया।

जब मन पर आघात होता है तब शक्ति सो जाती है। बडे-बडे कर्मठ लोग भी अकर्मण्य बन जाते है, जब मन पर चोट लगती है। मन की चोट बहुत भयकर होती है और जब मन रोग-ग्रस्त हो जाता है तब सारी शक्तिया क्षीण हो जाती है।

तीसरा अवरोध है—प्रभाव का। प्रभाव भी आदमी को बहुत प्रभावित करता है। कोई व्यक्ति ज्योतिष पर विश्वास करे या न करे, किन्तु वह इस सचाई को अस्वीकार नही कर सकता कि ग्रहो का हमारे जीवन पर प्रभाव पडता है। यह परम वैज्ञानिक तथ्य है। यह अन्धविश्वास नही है। लोग ज्योतिष को यो ही टाल देते है। यह एक एकागी दृष्टि का परिणाम है। यदि सर्वांगीण दृष्टि का विकास हो तो ज्योतिष को अस्वीकार करने का कोई कारण नही रह जाता।

जैन आचार्य ने एक ग्रन्थ लिखा 'गणिविज्जा' (स० गणिविद्या)। आचार्य को इसका अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। किस मुहूर्त्त मे और कहा दीक्षा देनी चाहिए? कब देनी चाहिए? अध्ययन कब शुरू करना

चाहिए ? किस दिशा के सम्मुख होकर करना चाहिए—यह सारा विषय उस ग्रन्थ मे वर्णित है।

प्रत्येक आयाम के पीछे दो पक्ष छिपे हुए होते है—देश और काल। देश और काल के बिना कोई भी प्रवृत्ति प्रारम्भ नहीं हो सकती। मै अभी-अभी पुराने साधु-साध्वियो की जीवनिया पढ रहा था। आचार्यो ने उन्हे दीक्षा दी। उनका दीक्षा-स्थल है—वटवृक्ष। शुभ मुहूर्त्त मे दीक्षा दी। आचार्य शकुन को जानते हैं, मुहूर्त्त को जानते है, देश और काल को जानते है।

आचार्य जगल मे जा रहे थे। साथ मे एक दीक्षार्थी व्यक्ति था। आचार्य मुहूर्त्त के ज्ञाता थे। उन्होने देखा—शुभ मुहूर्त्त चला जा रहा है। उन्होने उस दीक्षार्थी को गृहस्थ-वेश मे ही दीक्षा दे दी। वह आभूषण भी पहने हुए था। अपने गाव में पहुच कर उसका गृहस्थ वेष और आभूषण गृहस्थो को सभला दिए गए।

लाडनूं की घटना है। जयाचार्य शौचार्थ जंगल मे गए। देखा, शकुन अच्छा हुआ है। तत्काल साधुओ से कहा—चले, सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर दे, शकुन बहुत अच्छा हुआ है। जयाचार्य कुछ साधुओ को लेकर सुजानगढ की ओर चल पड़े। किसी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओ को कुछ भी पता नही चला। स्थान पर सब उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाद मे कुछ साधुओ को भेजकर सामान मंगवा लिया गया।

आचार्य भिक्षु विहार कर जा रहे थे। गाव के बाहर आए। शकुन अच्छा नही हुआ। वापस लौट आए।

आचार्य इन सबके जानकार होते है। देश-कालविद् होना आचार्य का एक गुण है, अतिशय है। एक क्षेत्र मे होने वाला कार्य सफल होता है और वही कार्य दूसरे क्षेत्र मे करने पर विफल हो जाता है। एक काल मे होने वाला कार्य सफल होता है और वही कार्य दूसरे समय मे करने पर विफल हो जाता है।

सौरमडल से आने वाले विकिरण हमारे प्रत्येक कार्य को प्रभावित करते हैं। जैसे ज्योतिष का सौरमडल है, वैसे ही अध्यात्म का भी सौरमडल है। ज्योतिष मे नौ ग्रह माने जाते है। अध्यात्म मे भी नौ ग्रह सम्मत है—

दाया मस्तिष्क—गुरु का क्षेत्र।
लघु मस्तिष्क—बुध का क्षेत्र।
शक्तिकेन्द्र—राहु का क्षेत्र, बुध का क्षेत्र।
आनन्दकेन्द्र—मगल का क्षेत्र।
विशुद्धिकेन्द्र—चन्द्रमा का क्षेत्र।
स्वास्थ्यकेन्द्र—शुक्र का क्षेत्र।

तैजसकेन्द्र—सूर्य का क्षेत्र ।

ज्ञानकेन्द्र—शनि का क्षेत्र ।

सारा सौरमडल हमारे शरीर के भीतर है । यदि कुण्डली के आधार पर यह ज्ञात हो कि अमुक ग्रह अभी शुभ नही है, उसकी गति हितकर नही है, उसको बदलने का उपाय आपके पास है । ज्योतिष भाग्य-भरोसे बैठने का सिद्धात नही है । ज्योतिष भाग्य को बदलने का सिद्धात है । ज्योतिष के द्वारा जाना जा सकता है और फिर भाग्य को बदला जा सकता है, ग्रह के परिणाम मे परिवर्तन लाया जा सकता है । पुरुषार्थ का सिद्धात इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा भाग्य की प्रत्येक रेखा को बदला जा सकता है, रूपातरित किया जा सकता है । ज्योतिष ज्ञापक है, कारक नही है । वह बतलाने वाला है कि अमुक घटना घटित होने वाली है । जान लेने पर ज्ञात हो जाने पर, उचित उपाय करना हमारे हाथ मे है । जैसे-जैसे ध्यान का विकास होता है, वैसे-वैसे हमारी प्रज्ञा निर्मल होती है, शक्ति जागती है और पुरुषार्थ प्रबल होता है, ध्यान की साधना से आदमी निठल्ला नही बनता किन्तु भाग्य को बदलने वाला बन जाता है । वह राम भरोसे या भाग्य भरोसे बैठने वाला नही बनता, किन्तु वह बदलने का दायित्व अपने पर ओढ लेता है और उस पुरुषार्थ मे सर्वात्मना जुट जाता है । वह यह मानता है—मैं भाग्य को बदल सकता हू, बदलने वाला हू, बदलने की चाबिया मुझे प्राप्त हो गई है ।

जिस व्यक्ति ने चैतन्य-केन्द्रो पर ध्यान किया है, मत्रो का ध्यान किया है, रगो का ध्यान किया है, वह अपने शारीरिक स्वास्थ्य को भी बदल सकता है, मानसिक आघातो को भी बदल सकता है, मानसिक ग्रथियो को भी खोल सकता है । ऐसी ग्रन्थिया होती है, जिनको खोलना दुष्कर और असभव लगता है, वे ग्रन्थिया ध्यान के द्वारा खुल जाती हैं । वह व्यक्ति ग्रहो के प्रभावो को भी बदल सकता है ।

अध्यात्म का पूरा ज्योतिष है । उसमे यह जानने को मिलता है कि किस महीने मे, किस राशि मे, किस चैतन्य-केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए और क्यो करना चाहिए । अप्रैल महीने मे किस केन्द्र पर, किस ग्रह का ध्यान शुभ होता है और मई महीने मे कौन-सा शुभ होता है ? अमुक शक्ति के विकास के लिए कब, कहा ध्यान केन्द्रित करना है—ये सब तथ्य अध्यात्म ज्योतिष की परिधि मे आते है । यह शक्ति-जागरण का पूरा विज्ञान है ।

ध्यान करने वाला निकम्मा नही होता, निठल्ला नही होता, आलसी नही होता, अकर्मण्य नही होता । उसमे एक आग प्रज्वलित हो जाती है, एक ज्योति जल जाती है । उसके आलोक मे वह सही दिशा मे देख सकता है,

सही कार्य मे अपनी शक्ति का नियोजन कर सकता है। शक्ति का पूरा नियोजन हो और फलितार्थ आए छोटा-सा, उसे कर्मण्यता नही कहा जा सकता। कर्मण्यता वह है कि कम श्रम मे वहुत वडी निष्पत्ति हो। ध्यान करने वाले व्यक्ति मे इस कर्मण्यता का जागरण हो जाता है। वह उतना ही श्रम करता है जितना अपने लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए आवश्यक होता है। वह अनावश्यक श्रम नही करेगा। वह अपना श्रम ऐसी गैसो के उत्पादन मे नही लगायेगा जिससे सात मिनट मे पूरी दुनिया नष्ट हो जाए। यह भी कोई श्रम है? आज हजारो-हजारो वैज्ञानिक अनेक प्रकार के 'वायरस' वनाने मे लगे हुए है। एक वार ऐसा हुआ। एक कार्यालय मे वायरस का एक डिव्वा पडा था, वह खुल गया उसमे से कीटाणु फैले और सैकडो आदमी मर गए। वे वायरस युद्ध के प्रयोजन से नही, किसी और प्रयोजन से खोले गए थे। किन्तु आज हजारो-हजारो वैज्ञानिको और श्रमिको का श्रम लग रहा है, वड़े-वड़े कारखाने चल रहे है जिनका प्रयोजन यही है कि ऐसे भयकर वायरस पैदा किए जाए जिससे कुछ क्षणो मे ही समस्त मानवजाति को नष्ट किया जा सके। अव होने वाला युद्ध अणुशस्त्रो से नही लडा जाएगा। वह लडा जाएगा गैसो और कीटाणुओ से। विभिन्न प्रकार के कीटाणु वनाए जा रहे है, जिमसे विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो सके। युद्ध के मैदान मे एक प्रकार के कीटाणुओ का विस्फोट किया जाएगा और सारे सैनिक भयकर जुकाम से पीडित हो जाएगे। उस स्थिति मे शस्त्र चलाना उनके वश में नही रहेगा। वे नाक पोछते ही रह जाएंगे। न जाने कितने प्रकार के वायरस पैदा दिए जा रहे हैं। मूर्च्छा लाने वाले वायरस, वीमारिया पैदा करने वाले वायरस, दस्त लगाने वाले वायरस आदि-आदि। इनका उपयोग युद्ध क्षेत्र मे होगा, इसीलिए वैज्ञानिक इनके उत्पादन मे लगे हुए है।

यह भी कोई श्रम है। कर्मण्यता है? जिससे मनुष्यजाति का कल्याण न हो, वह वास्तव मे कोई कार्य नही है। वह कर्मण्यता नही है।

वोधिधर्म चीन गए। वहां के सम्राट् ने कहा--मैने भगवान् वुद्ध के उपदेशो के अनुसार जनहित के अनेक कार्य किए। मैंने कुए खुदवाए, वगीचे लगाए, प्याऊ लगाई, जनता का दु.ख दूर करने का प्रयास किया। क्यो महाराज! ये सारे पुण्य के ही तो कार्य हैं?

वोधिधर्म वोले—महाराज! ये सव कार्य उल्लासकारी है, कल्याणकारी नही। कल्याणकारी कार्य है शील का आचरण। तुम शीलवान् वनो, समाधि का आचरण करो, प्रज्ञा का आचरण करो। यह सव कल्याणकारी है। यह कल्याणकारी श्रम है। तुमने उल्लासकारी श्रम किया है, कल्याणकारी नही।

आज दुनिया मे विनाशकारी श्रम चल रहा है। यह इसलिए कि लोगो ने ध्यान छोड दिया। चित्त को पवित्र और निर्मल वनाने वाले उपायो को छोड दिया। ध्यान कोरी एकाग्रता नही है। ध्यान का प्रयोजन है— चित्त को निर्मल वनाना। चित्त मे जमे हुए कषाय के मैलो को धो डालना। चित्त को इतना निर्मल वना देना कि उसमे कोई शत्रुता का प्रतिविम्व न रहे। भेद का प्रतिविम्व न रहे। उसमे तर्क का प्रतिविम्व भी न पडे। चित्त इतना निर्मल वन जाए कि उसमे कोई कलुपता रहे ही नही।

ध्यान करना छोड दिया। शक्ति का उपयोग तो चल रहा है, किन्तु वह विनाशकारी या उल्लासकारी उपयोग मात्र है, कल्याणकारी नही। कल्याणकारी श्रम, कल्याणकारी कर्म और कल्याणकारी कर्मण्यता जो चाहिए, वह नही चल रही है।

ध्यान के द्वारा व्यक्ति मे कर्मजाशक्ति जागती है, चेतना का जागरण होता है और दिशा वदल जाती है। फिर वह व्यक्ति प्रथामिकता देगा कल्याणकारी कर्म को। वह उल्लासकारी कार्य उतना ही करेगा, जितना आवश्यक है। वह विनाशकारी कर्म कुछ भी नही करेगा। जव तक समाज मे ध्यान करने की प्रवृत्ति नही जागेगी, चित्त को निर्मल वनाने की प्रक्रिया हस्तगत नही होगी तथा चित्त मे कपायो को सामाजिक सघर्पो मे जमने वाले मैलो को, प्रतिक्रियाओ, विवादो और अवसादो को धो डालने की प्रक्रिया हाथ नही लगेगी तव तक कल्याणकारी कर्म सवसे कम होगा, उल्लासकारी कर्म उससे अधिक और विनाशकारी कर्म उससे भी अधिक होगा। यह तरतमता दोनो दिशाओ मे है, इसका आप स्वय अनुभव करे। जव दिशा स्पष्ट होगी तव स्वय ज्ञात हो जायेगा कि ध्यान करने वाला निठल्ला या निकम्मा वनता है या वह ध्यान के द्वारा किसी विशिष्ट शक्ति और चेतना का जागरण करता है।

मैं मनुष्य हूं (१)

आरोहण के लिए आलम्बन चाहिए। सस्कृत साहित्य मे कहा गया है कि लता, पण्डित और स्त्री तीनो को आगे बढने के लिए सहारा चाहिए, कोई आश्रय चाहिए। प्राणी विकास की प्रक्रिया से गुजरता है, उसे कोई आलम्बन चाहिए। 'मै मनुष्य हू'—यह सबसे बड़ा आलम्बन है। हमारे जगत् में दो प्रकार के तत्त्व है—प्राणी और अप्राणी। जिसमे प्राणशक्ति होती है, जीवन-शक्ति होती है, प्राण का स्पन्दन और प्रकम्पन होता है, वह प्राणी है। एक ऐसा भी तत्त्व है जिसमे प्राण का प्रकम्पन नही है, वह अप्राणी है। हम प्राणी वर्ग मे आते है। हम सास लेते है। हमारा हृदय धडकता है। हमारे मे प्राण का प्रकम्पन होता है। प्राण हमारे जीवन का लक्षण है। जीवन एक बात है और विज्ञान उसका अगला चरण है। सभी प्राणी विज्ञान की चेतना को उपलब्ध नही होते। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे विज्ञान की चेतना उपलब्ध है। पुरानी भापा मे विज्ञान का अर्थ है—विवेक चेतना या अनुभव चेतना। आज की भापा मे विज्ञान का अर्थ है—प्रयोगात्मक चेतना का विकास या परिणामात्मक चेतना का विकास।

यह विज्ञान हर प्राणी को उपलब्ध नही होता, केवल मनुष्य को ही उपलब्ध होता है। हम मनुष्य है—यह एक बहुत बडा आलम्बन है ऊर्ध्वा-रोहण के लिए, चेतना के विकास के लिए। हमारी दो शक्तिया हैं—एक है प्राण की शक्ति, दूसरी है चेतना की शक्ति। ये दोनो शक्तिया मनुष्य को शेप सब प्राणियो से भिन्न करती है। वनस्पति जगत् से पशु-पक्षी जगत् तक जितने भी प्राणी है, उन प्राणियो से मनुष्य को भिन्न करने वाली शक्ति है चेतना का विकास, विवेक की शक्ति, अनुभव की शक्ति। मनुष्य ही विवेक कर सकता है और विशिष्ट प्रकार का अनुभव कर सकता है। हम मनुष्य हैं इसलिए चेतना के विकास के अधिकारी है।

भर्तृहरि ने मनुष्य और पशु के बीच मे एक भेद-रेखा खीची। उन्होने बताया—आहार, नीद, भय और मैथुन—ये चार सामान्य वृत्तिया है। ये पशु मे भी होती है, मनुष्य मे भी होती है। इनके द्वारा पशु और मनुष्य मे कोई भेद नही किया जा सकता। उनके बीच कोई भेद-रेखा है तो वह है—धर्म। धर्म के द्वारा पशु और मनुष्य मे भेद किया जा सकता है।

शब्द की अपनी शक्ति होती है। शब्द के अर्थ का विकास भी होता है, ह्रास भी होता है। भापा-विज्ञान के नियम को जानने वाले इस बात को

जानते है कि शब्द के अर्थ का उपक्रमण और अपक्रमण होता रहता है। अर्थ का परिवर्तन होता है। अर्थ का विकास और ह्रास होता है। आज धर्म शब्द का अर्थ कुछ बदल गया है। आज का आदमी धर्म शब्द की भाषा को कम समझने लगा है और वह शब्द कुछ रूढियो के साथ जुड गया है। यदि हम नई भाषा मे इस पर चिन्तन करे तो धर्म के स्थान पर हमे एक दूसरा शब्द खोजना होगा और वह शब्द हो सकता है—विज्ञान। मनुष्य और पशु मे जो अन्तर है वह विज्ञान का अन्तर है। पशु मे विज्ञान नही है। विवेक की चेतना नही है। मनुष्य मे विज्ञान है, विवेक की चेतना है। यही पशु और मनुष्य मे एक मौलिक अन्तर है। पशु प्राणशक्ति का अधिकारी है, उसमे प्राणशक्ति है, पर प्राणशक्ति का विकास वह नही कर सकता। आज तक वह नही कर पाया। एक पशु हजार वर्ष से बराबर भार ढो रहा है। वह बैलगाडी से जुता हुआ है, भार ढो रहा है किन्तु उसकी चेतना मे कोई परिवर्तन नही आया। न यह प्रश्न उठा कि मुझ पर भार क्यो लादा जा रहा है ? न यह प्रश्न उठा कि यह भार छूटना चाहिए। न उसने कोई क्रान्ति की कि मुझे भार-मुक्ति मिलनी चाहिए। यदि मनुष्य की चेतना पशु मे होती और पशु विद्रोह करते, क्रांति करते तो मनुष्य के सामने समस्याए पैदा हो जाती। पर बेचारा गाडी से जुता बैल आज भी मार खा रहा है और वैसे ही जुता हुआ है जैसे पुराने जमाने मे था। कोल्हू ने जुता हुआ बैल आखो पर पट्टी बाधे हुए वैसे ही चक्कर लगा रहा है जैसे हजार वर्ष पहले लगा रहा था। कोई विकास नही हुआ। न चेतना का विकास हुआ और न प्राणशक्ति का विकास हुआ। मनुष्य ने प्राणशक्ति का भी विकास किया और विवेकशक्ति का भी विकास किया। दो शताब्दियो पहले जो चिंतन था, आज वह चितन बहुत विकसित हो गया—सामाजिक समस्याओ के सदर्भ मे, आर्थिक समस्याओ के सदर्भ मे और चारित्रिक समस्याओ के सदर्भ मे। जीवन-प्रणाली और राजनीति के क्षेत्र मे मनुष्य का प्रत्येक चरण आगे से आगे विकास करता चला जा रहा है। इसका कारण है कि उसमे विवेक की शक्ति है, विज्ञान की शक्ति है।

कोरा जीवन होना बडी बात तो है। अजीवन से जीवन होना, अप्राणी से प्राणी होना एक विकास है, बडी बात है किन्तु केवल जीवन होना, केवल प्राणी होना उतनी बडी उपलब्धि नही है जितनी बडी उपलब्धि है जीवन के साथ-साथ विज्ञान की चेतना का विकास होना। प्राणशक्ति के साथ-साथ चेतना की शक्ति का विकास होना और नये आयामो का उद्घाटन होना, नई दिशाओ का प्रस्फुटन होना, यह बहुत बडी बात है। मै मनुष्य हू, इसमे ये दोनो बाते समायी हुई है। मै मनुष्य हू इसलिए प्राणशक्ति का भी विकास कर सकता हू, प्राण के नये आयाम प्रस्फुटित हो सकते हैं और

चेतना की नई दिशाए भी उद्घाटित हो सकती है।

हमारे प्राण की अनेक धाराए है, शक्तिया है। इनमे चार मुख्य होती हैं—शरीर-वल, भाषा-वल, मनोवल और श्वास का वल। मनुष्य ने चारो वलो का, चारो शक्तियो का विकास किया है। शरीर-वल का विकास किया है। पशु मे शरीर का वल वहुत होता है, किन्तु अपनी-अपनी स्थिति मे जितना है, उतना ही रहता है। किन्तु मनुष्य वहुत विकास कर सकता है। वहुत तेज दौड मे आगे वढ सकता है। भारोत्तोलक मे वह शक्ति का कीर्तिमान स्थापित कर सकता। अच्छा धावक, अच्छा भारोत्तोलक शरीर के विभिन्न करतव दिखाने वाला, गले के स्पर्श से साकल तोड देने वाला, लोहे की वडी-वडी साकल, जिसे हाथी भी न तोड सके, अपनी कटी से वाधकर उसे तोड देना—ये प्राणशक्ति की दिशा मे, अपनी शक्ति की दिशा मे मनुष्य ने विकास किया है। क्योकि उसमे विवेक की चेतना और विकास की चेतना है, इसलिए वह हर दिशा मे विकास की वात सोचता रहता है। एक मनुष्य मे विवेक-चेतना नही होती तो पशु मनुष्य पर हावी हो जाता। ऊट मे जितना वल होता है, एक घोडे मे जितना वल होता है, एक भैसे मे जो ताकत है उसके सामने मनुष्य के शरीर की कोई ताकत नही है। पर घोड़ा भी मनुष्य के वश मे चलता है, हाथी भी मनुष्य के अधीन है, भैसा भी मनुष्य के अधीन है और मनुष्य सिंह को भी पिंजरे मे डाल देता है। इसका कारण है कि उसकी चेतना मे विकास की निरन्तर प्रक्रिया चलती है। निरन्तर वह उपाय और समाधान खोजता रहता है और समस्याओ से निपटता रहता है। एक आदमी के मन मे एक सकल्प जगा कि मुझे एक भारी भरकम साड को हाथो पर उठाना है। कैसे सम्भव हो सकता है? कहा साड का भार, कहा साड की ताकत और कहा मनुष्य का भार और कहा उसकी शक्ति! कैसे संभव हो सकता है? वड़ी असंभव जैसी कल्पना लगी। किन्तु जब चेतना का आयाम खुलता है तो असभव कल्पना भी सभव वन जाती है, कोई वात दुरूह नही होती। उपाय सोचा—वछडा जन्मा और पहले दिन उसको उठाया। उठा सकता था, सम्भव वात थी। दूसरे दिन उठाया, तीसरे दिन उठाया। निरन्तर उठाता रहा, उठाता रहा। इस निरन्तरता से उसने इतना विकास किया कि वछडा वडा साड हो गया, तो भी उसे उठाने मे कोई कठिनाई नही हुई। निरन्तरता एक वहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, वहुत मूल्यवान् वात है। पाच मिनट भी कोई व्यक्ति निरन्तर श्वास का अनुभव करता है और वीच मे यदि कोई विकल्प न आये तो पाच मिनट के वाद ऐसा लगेगा कि शरीर को कोई चार्ज कर दिया गया है, वैटरी को इतना चार्ज किया गया है कि भीतर से प्रकाश की, प्राण की ऊर्जा की धाराए दौड़ने लगी हैं। शक्ति का विस्फोट होने लग गया है।

निरन्तरता मे जो शक्ति होती है, वह कभी बूद मे नही होती। बिन्दुपात एक बात है और धारापात दूसरी बात है। बिन्दुपात होता है एक बूद गिरी, दो मिनट के बाद फिर बूद गिरी। पहली बूद सूख जाती है, दूसरी भी सूख जाती है, तीसरी भी सूख जाती है। पृथ्वी के ताप मे और रेत मे बूदे सूखती चली जाती है। एक होता है धारापात। धारापात का अर्थ होता है—प्रवाह। धारा बहने लग जाती है और नाले का, नदी का बडा रूप ले लेती है। बिन्दुपात से शक्ति का विकास नही होता। शक्ति का विकास धारापात से होता है। बिन्दुपात मे निरन्तरता नही होती और धारापात मे निरन्तरता होती है। बिन्दुपात मे अन्तराल आ जाता है। अन्तराल का अर्थ है—काल का व्यवधान। 'काल. पिवति तद्रस'—काल उसके रस को पी जाता है। जो रस होता था, बीच मे समय, अन्तराल आ गया और पहले को काल पी गया, दूसरे को भी पी गया। जहा निरन्तरता होती है, धारापात होता है वहा काल उसके रस को पीता नही, किन्तु आगे बढा देता है।

निरन्तरता का बहुत मूल्य है। निरन्तर अनुभव करना। जिस व्यक्ति ने श्वास का निरन्तर अनुभव करना सीख लिया, उसने शरीरबल, मनोबल और वाक्बल—वाणी के बल को विकसित करने का एक बहुत बडा रहस्य हस्तगत कर लिया।

आज सबसे बडी कमी यही आई है कि लोग निरन्तरता की बात को भूल गये, शक्ति के निरन्तर प्रवाह की बात को भूल गये। आज यहा के एक अधिकारी ने बताया कि वे एक वर्ष के खेलकूद कोर्स को विदेश मे पूरा करके आये हैं। उन्होने बडे आश्चर्य के साथ कहा कि अब खेलकूद के साथ पश्चिम के लोगो ने योग को और जोड दिया है। बडी विचित्र बात है! अब खेलकूद का प्रशिक्षण लेने भी बाहर जाना पडता है और योग भी बाहर से सीखना पडता है। योग यहा से निर्यात हुआ और फिर यहा आयात करने की जरूरत पड गई। एक ही कारण है कि निरन्तरता किसी बात मे नही रही, किसी बात मे एकाग्रता नही रही। सब कुछ व्यवधान और व्यवधान। छूटा हुआ, छूटा हुआ, टूटा हुआ, टूटा हुआ। ऐसा लगता है जैसे हम धारा को भूल ही गये। प्रवाह को बिलकुल भूल गये। हमारी प्राण की धारा निरन्तर एक दिशा मे प्रवाहित होती रहे तो आज खेलकूद के क्षेत्र मे, शिक्षा के क्षेत्र मे, विज्ञान के क्षेत्र मे, हर क्षेत्र मे भारतीय प्रतिभा बहुत निर्यात करने की स्थिति मे आ सकती है। किन्तु निरन्तरता और एकाग्रता के अभाव मे स्थिति यह है कि कभी-कभी भारत को स्वर्णपदक मिलता होगा, पर आज तो रजत और कास्य पदक मिलने पर भी आश्चर्य होता है कि एक-दो तो मिला। साठ-सत्तर करोड आदमियो का देश और वहा की यह दयनीय स्थिति, बडा विचित्र-सा लगता है।

कोई आश्चर्य नही होता कि उसका जो साधन था, मूल सूत्र था, वह तो हम खोते जा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र मे भी यही समस्या है। अध्यापक हो या विद्यार्थी हो, कोई भी हो, जितना अनुशासन का विकास, जितना चरित्र का विकास होना चाहिए, इसलिए नही हो रहा है कि न इच्छाशक्ति है, न संकल्पशक्ति है, न एकाग्रता की शक्ति है और न कोई निरन्तरता। केवल शब्द दिमाग पर लादे जा रहे है। ठीक है, शब्द का काम जितना है, उतना तो होगा। शब्द की जितनी शक्ति हैं और शब्द के माध्यम से जितना विकास होना है वह तो होगा। इसमे तो कोई सन्देह नही। किन्तु जो विशिष्टता आनी चाहिए, जो क्षमता आनी चाहिए, जो दक्षता आनी चाहिए वह कैसे आयेगी ? कार्य होना एक बात है, कार्य की क्षमता का विकास होना दूसरी बात है और कार्य-क्षमता मे दक्षता आना तीसरी बात है। वह दक्षता कैसे आयेगी ? Efficiency कैसे बढेगी ? निपुणता का तो कोई प्रश्न ही नही होता। निपुणता पुस्तके नही लाती, निपुणता चेतना लाती है। चेतना और पुस्तक दोनो का योग हो तब तो दक्षता बढेगी, कोरी पुस्तक तो है पर चेतना की विशिष्टता वहा नही जुड रही है तो दक्षता सम्भव नही हो सकती। मूल प्रश्न है निरन्तरता का, एकाग्रता का।

उस व्यक्ति ने निरन्तर प्रयास किया। निरन्तर प्रयास का परिणाम यह हुआ कि भार उठाते-उठाते, बछडे को उठाते-उठते, एक दिन ऐसा आया कि उसकी शक्ति का इतना विकास हो गया कि भारी-भरकम साड को भी उसने हाथो पर उठा लिया।

यह प्रयत्न-साध्य, विवेक-साध्य और चेतना-साध्य कार्य है। जापान में कराटे और जूडो का विकास हुआ। यह शरीर-बल का विकास है, इतना हाथ को मजबूत कर लिया जाता है कि तलवार का भी वार होगा, हाथ कटेगा नही। मनुष्य ही यह विकास कर सकता है। यह प्राणशक्ति का विकास है। प्राणशक्ति का ऐसा विकास होता है कि शस्त्र का प्रहार हो रहा है पर कोई असर नही हो रहा है। हमने आखो देखा कि एक भाई ने श्वास भरा, श्वास को रोका और हाथ फैला दिया। दस आदमी लटक गये, पर हाथ तो टस से मस नही हुआ। यह प्राणशक्ति का विकास हे। शरीर-बल का विकास मनुष्य ही कर सकता है, क्योकि उसमे विवेक है। शरीर-बल के बड़े अदभुत विकास मनुष्य ने किए हैं। आज भी यह परम्परा लुप्त नही है, किन्तु उसके प्रति जो महत्त्व का भाव होना चाहिए, जो उसका मूल्यांकन होना चाहिए वह नही है। किस प्रक्रिया से शरीर-बल को विकसित किया जा सकता है, बढाया जा सकता है, हमारी यह चेतना शायद इतनी जागरूक नही है।

मनोबल का विकास भी बहुत अपेक्षित है। इतना अद्भुत मनोबल

कि कठिन से कठिन समस्या आने पर भी घुटने नही टिकते। थोडी-सी समस्या है, आदमी घुटने टेक देता है। यह बहुत बडी समस्या है। अधिक लोग ऐसे मिलेगे कि समस्या न आये तब तक तो सब ठीक है, समस्या आई और घुटने टिकने मे देर नही लगती। इसका कारण है कि मनोवल नही है। इतना क्षीण है मनोवल कि सहिष्णुता का विकास नही है। किसी भी स्थिति मे सहने की क्षमता नही है। हम जिस दुनिया मे जीते है, वहा अनुकूलता भी है, प्रतिकूलता भी है। वह गर्मी है प्रतिकूलता, वह सर्दी है अनुकूलता। दोनो है। एक स्थिति कभी नही हो सकती। न कभी सर्दी का एकाधिकार हमारे यहा है और न ही गर्मी का एकाधिकार। दोनो बराबर चलते है। हम अपनी शक्ति का ऐसा विकास करे कि सर्दी को सह सके, गर्मी को भी सह सके। सर्दी को सहना भी वडा कठिन होता है, गर्मी को सहना भी वडा कठिन होता है। अनुकूलता को सहना भी वडा कठिन काम है और प्रतिकूलता को सहना भी कठिन काम है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है प्रतिकूल परिस्थिति की अपेक्षा अनुकूल परिस्थिति को सहना और ज्यादा कठिन काम है। जब मनुष्य के सामने अनुकूलता आती है तब आवेग वढ जाता है, अहंकार वढ जाता है। आदमी उसे सहन नही कर पाता। वहुत बार ऐसा भी होता है कि एक साथ अधिक अनुकूलता आने पर आदमी अपने आपको भूल जाता है। कभी-कभी प्राण वियोग भी कर लेता है।

अनुकूलता को सहना भी वड़ा कठिन होता है। हम लोग द्वेप को तो फिर भी सह लेते है पर राग को नही सह पाते। अप्रिय सवेदनो को झेल लेते है पर प्रिय सवेदन को झेलना वहुत कठिन होता है। हमारी शक्ति का ऐसा विकास हो, जिसमे हम अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो को झेल सकें। मनोवल का इतना विकास हो जाए कि अनुकूलता के सामने घुटने न टिके और प्रतिकूलता के सामने भी घुटने न टिके। ऐसे मनोबल का विकास हो सकता है। भारतीय चेतना मे शरीर-वल और मनोवल के विकास की बहुत घटनाएं घटित हुई है और ऐसा अद्‌भुत मनोबल कि जिसकी सामान्य आदमी कल्पना भी नही कर सकता। यदि हिन्दुस्तान के पास मनोवल नही होता तो इतने वडे साम्राज्य से अशस्त्र होकर लडना और अपनी शताब्दियो से खोये हुए वैभव को, स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त कर लेना कोई सामान्य घटना नही है, विशिष्ट घटना है और केवल मनोवल के आधार पर ही इसमे बहुत वडा काम हुआ है। और भी कुछ परिस्थितिया हो सकती हैं पर उन सारी परिस्थितियो मे मनोबल का वहुत वडा योग है। हम मनोवल का भी ठीक मूल्याकन नही कर रहे हैं।

वाणी का वल वडा ही अद्‌भुत होता है। हमारी प्राणधारा यदि वाणी के साथ जुड जाये और वाणी का वल वढ़े तो एक व्यक्ति के मुंह से

निकलने वाली बात विफल नही हो सकती। हमारे यहा वचनसिद्धि मानी गई है। वचन की सिद्धि जिस व्यक्ति को होती है, उसके मुह से जो बात निकल जाती है, वह घटित होती है। यानी पदार्थ-जगत् प्रभावित होता है, परमाणुओ मे एक हलचल हो जाती है और उन परमाणुओ को बदलना ही पड़ता है और वैसी घटना को घटित होना पडता है। आज भी ऐसे लोग मिलते है कि जिनके मुह से कोई वचन निकल गया, वह बात होती ही है। वचन मे इतनी वडी शक्ति आ जाती है। यह भी प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सम्भव है। प्राणशक्ति जुड जाये तो शरीर का बल कल्पनातीत बढ जाता है। प्राण की धारा जुड जाए तो वाणी का बल बढ जाता है और प्राणशक्ति की धारा जुड जाये तो मन का बल भी बढ जाता है। प्राण की धारा जुड जाये तो श्वास का बल भी बढ जाता है। आज तो हमारी स्थिति यह है कि श्वास बल की बात तो दूर रही, श्वास को सम्यक् लेना भी नहीं जानते। सम्यक् श्वास का लक्षण है कि पेट फूलना चाहिए। सीना फूले, यह कोई सम्यक् श्वास का लक्षण नही है। सीना तो अपने आप फूलेगा, किन्तु श्वास के कम्पन पेट तक जाए। जो हमारी मासपेशी है तनुपट, वह थोडा नीचे जाये और श्वास लेते समय पेट फूले और छोडते समय सिकुड़े। जब हम श्वास लेते है तब छह-सात लीटर हवा पेट में जाती है। इतनी हवा जाती है और उस हवा का दबाव जब नीचे जाता है तो पेट फूलेगा और छोडेंगे तब सिकुडेगा। बिलकुल सामान्य-सी बात है। पर सम्यक् श्वास भी हमारे जीवन मे नही है। जब श्वास सम्यक् नही है, श्वास का बल नही है तो ईंधन के बिना चूल्हा प्रज्वलित नही होता, शरीरबल, मनोबल, वाक्बल, यह शक्ति का चूल्हा तब जलेगा जब उसे श्वास का ईंधन मिलेगा। ऑक्सीजन मिलेगी, प्राणवायु प्रज्वलित होगी तब यह चूल्हा जलेगा। मूल बात शरीरबल नही है, मूल बात वाणी और मनोबल नही है। आधारभूत मौलिक बात है, श्वास का बल, सम्यक् श्वास।

श्वास सम्यक् होगा तो शरीर की शक्ति बढ जायेगी। आप प्रयोग कर सकते है, अनुभव कर सकते है कि किसी भी अवयव को मजबूत करना है, किसी भी अवयव को नीरोग करना है, बीमारी को मिटाना है तो दस मिनट का समय लगाये। निरन्तर दीर्घश्वास ले, श्वास का सयम करे और चित्त को उसी अवयव पर टिका दे जिसे हम निरोग करना चाहते हैं, शक्तिशाली बनाना चाहते है। कुछ दिनो बाद आप देखेंगे कि उस अवयव की ताकत बढ रही है, शक्ति का विकास हो रहा है और उस अवयव की रुग्ण अवस्था, कमजोरी समाप्त होती जा रही है। एक-दो दिन मे चाहेंगे तो बड़ी असभव बात लगेगी। निरन्तर करे, लम्बे समय तक करे। आपको निश्चित अनुभव होगा कि परिवर्तन हो रहा है। उसमे श्वास का योग, ईंधन

का योग जरूर चाहिए। ईंधन की तो आज सारी समस्या है, ऊर्जा की आज समस्या है। यदि ऊर्जा के बिना प्रकाश होता तो आज ऊर्जा के क्षेत्र मे इतने अनुसधान नही चलते। आज सारे ससार मे ऊर्जा पर कितने अनुसधान हो रहे है! ऊर्जा के नये-नये स्रोत खोजे जा रहे हैं। हमारी बिजली ऊर्जा के आधार पर चलती हैं। चूल्हे ऊर्जा के आधार पर जलते हैं। यदि ऊर्जा नही होती तो रोटी भी नही पकती, प्रकाश भी नही मिलता, पखे भी नही चलते और हवा भी नही मिलती। सबके लिए ऊर्जा के स्रोत चाहिए। यह श्वास हमारी प्राणिक ऊर्जा का स्रोत है। जब तक इस स्रोत को नही खोज लिया जाता और इस स्रोत को नही समझ लिया जाता, तब तक ये चूल्हे, चाहे शरीर को पकाने वाले हो, चाहे मन को पकाने वाले हो और चाहे वाणी को पकाने वाले हो ये कभी जल नही सकते। इसलिए हमे सबसे पहले ध्यान केन्द्रित करना होता है श्वास की ऊर्जा पर।

श्वास की शक्ति जागे, श्वास का बल बढ़े। दीर्घश्वास का प्रयोग श्वास की शक्ति बढाने का प्रयोग है। जो आदमी छोटा श्वास लेता है वह आदमी श्वास बल को विकसित नही कर सकता, सम्यक् श्वास कहा है? छोटा श्वास चलता है, बहुत छोटा श्वास। एक मिनट मे कुछ लोग २२-२३ श्वास भी लेने लग जाते हैं। बहुत छोटा श्वास लेते है। गति होनी चाहिए मन्द श्वास की दिशा मे, और हो रही है तीव्रश्वास की दिशा मे। श्वास की गति मन्द होगी, श्वास लम्बा होता चलेगा, सख्या घटती जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की सख्या घटेगी, जीवनशक्ति बढेगी, दीर्घायु होगा आदमी, शरीर की शक्ति बढेगी, प्राण की शक्ति बढेगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या बढ़ेगी आयु कम होगी, शक्ति का खर्च ज्यादा होगा। हम जागते समय जितने श्वास लेते है नीद मे उससे ज्यादा श्वास लेने लग जाते हैं। जहा जागते समय १५-१६ श्वास लेते हैं वहा नीद मे २०-२२ श्वास हो जायेगे। आवेग की स्थिति में श्वास और बढ जाते हैं। इसका अर्थ है कि जीवनशक्ति का क्षरण होने लग जाता है। हमारी शक्ति का व्यय अतिरिक्त होने लग जाता है। जो आदमी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है, दीर्घायु होना चाहता है, अकाल मृत्यु नही चाहता, अपने शक्ति भण्डार को जल्दी से खाली करना नही चाहता, उसके लिए दीर्घश्वास का प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है। यदि दीर्घश्वास का अभ्यास करे, श्वास की सख्या को घटाये—१५ की स्थिति से १०-८-७-५-२ तक ले जायें तो अपने आप श्वास का बल बढेगा, शक्ति का व्यय बहुत रुक जायेगा।

आज के शिक्षा जगत् मे एक बडी भ्रान्ति चल रही है। वह यह कि हम विज्ञान के इतिहास को चार सौ वर्षों का इतिहास मान रहे हैं और पश्चिमी लोगो को ही वैज्ञानिक मान रहे है। भारतीय लोगो को तो हम

वैज्ञानिक मानते ही नहीं हैं। कहा किसी का नाम आता है? हमारे यहा सैकडो वैज्ञानिक हुए हैं। उन्होने वडी वैज्ञानिक खोजे की। पर इतिहास मे उनका उल्लेख नही है। अब मुश्किल से कुछ नाम आने लगे है। कुछ विश्व-विद्यालयों मे इस वैज्ञानिक इतिहास के साथ भारतीय वैज्ञानिको के नाम भी जुडने लगे है और प्राचीन वैज्ञानिकों की खोज का विभाग भी कही-कही खुला है। परन्तु पुराने लोगो को हम वैज्ञानिक तो मानते ही नही हैं।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक योगियो ने कितनी वडी अद्‌भुत खोज की थी कि आज तक इतना विकसित होने पर भी मेडिकल साइन्स वह खोज नही कर पाया है। हमारे नाडी-संस्थान मे दो प्रकार के सिस्टम है। एक है वोलेन्टरी और दूसरा है ऑटोनर्वस—स्वत-चालित और इच्छाचालित। इच्छाचालित नाडी-सस्थान के द्वारा शक्ति का व्यय होता है। किन्तु स्वत-चालित नाडी-सस्थान के द्वारा भी वहुत शक्ति का व्यय होता है। यहा खोज यह हुई थी कि हम स्वत-चालित नाड़ी-सस्थान पर भी नियन्त्रण कर सकते हैं। श्वास को रोक सकते है, शरीर के तापमान को कम कर सकते है, जो चयापचय की क्रिया है उसको भी हम धीमी कर सकते है। हृदय की धडकन को रोक सकते है और कम कर सकते हैं। जितने स्वत चालित हमारे कार्य है, उन पर भी नियन्त्रण स्थापित कर सकते है। उन पर नियन्त्रण करने का अर्थ होता है शक्ति के व्यय को रोक देना।

आज एक ऐसी खोज हो रही है और निकट भविष्य मे विकास मे आने वाली वात है कि आदमी को शीतीकरण की प्रतिक्रिया से जमा दिया जाएगा। जीते आदमी को शीतीकरण की प्रक्रिया से वर्फ के जैसे जमा दिया जाएगा। पांच वर्ष, दस वर्ष, पचास वर्ष जितना चाहे, कोल्डस्टोरेज मे जैसे फल पडे रहते है, वैसे पडा रहेगा। और जव चाहे कि पुनर्जीवित करना है, उसको गर्म किया, फिर वह सक्रिय हो उठेगा। उसकी आयु ५० वर्ष की और वढ गई। यानी उसकी जीवनशक्ति को पचास वर्ष जीवित रख दिया। शक्ति-व्यय को वचा लिया, रोक दिया। यही तो प्रक्रिया थी। स्वत-चालित नाडी-सस्थान को वन्द कर दिया और जीवनी शक्ति का उतना काल हमने वढा लिया। वहुत महत्त्वपूर्ण खोज थी, हमने उसको भुला दिया। विलकुल ही भूल गए। हम आज न श्वास-सयम जानते है, न नाडी पर नियत्रण जानते हैं, न तापमान को घटाना जानते हैं, न चयापचय की क्रिया को कम करना जानते है। इन सारी क्रियाओ को निरर्थक समझ कर हमने भुला दिया है।

हम कुछ अतीत मे लौटे। वर्तमान में जीना वहुत अच्छा है। वर्तमान का वोध वहुत आवश्यक है, किन्तु केवल वर्तमान से ही काम नहीं चलता। ध्यान की प्रक्रिया वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। यह ठीक है कि आदमी जितना वर्तमान मे जीएगा, उसकी शक्ति उतनी ही वढेगी। किन्तु केवल

वर्तमान से ही तो हमारा काम नही चल सकता। अतीत मे भी कभी लौटना होता है, भविष्य मे भी जाना होता है। हमारा जीवन, स्मृति, चिन्तन और कल्पना—इन तीनो के आधार पर चलता है। कोरी स्मृति, कोरा चिन्तन और कोरी कल्पना काम नही देती। स्मृति अतीत मे लौटने की प्रक्रिया है। कल्पना भविष्य मे जीने की प्रक्रिया है और चिन्तन वर्तमान मे जीने की प्रक्रिया है। इन तीनो का समन्वय चाहिए। अतीत मे लौटने की बात भी सर्वथा व्यर्थ नही है। हम अतीत मे भी लौटे और ध्यान दे कि किन उपायो के द्वारा हमने शक्ति का विकास किया था।

मैं प्राणशक्ति के विकास की चर्चा कर रहा हू। प्राणशक्ति का विकास तीन धाराओ मे चले—शरीर की शक्ति, वाणी की शक्ति और मन की शक्ति। उन तीनो धाराओ को विकसित करने के लिए श्वास का बल बढे और श्वास-बल को बढाने का एक उपाय हो सकता है—दीर्घ श्वास का प्रयोग। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का अभ्यास बढेगा तो शिक्षा का एक नया आयाम खुलेगा। विद्यार्थी के जीवन मे एक नई दिशा उद्घाटित होगी कि वह विद्यार्थी केवल बौद्धिक विकास वाला विद्यार्थी नही होगा। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है पर कोरा बौद्धिक विकास पर्याप्त नही है। उसके साथ और भी विकास चाहिए। बुद्धि का विकास तो बहुत है, शरीर साथ नही देता। क्या होगा? आज ही हमने एक व्यक्ति को देखा जिसके पास धनबल बहुत है। करोड़ो की सम्पत्ति है पर शरीर बिलकुल बेकार हो रहा है। कितना रुग्ण हो रहा है? मैने अपने सहवर्ती मुनि से कहा कि इतना धन है, पर यह तो निरन्तर दु:ख अनुभव कर रहा है, किस काम की होगी यह सम्पत्ति? एक बात से हमारा जीवन कभी परिपूर्ण नही होता, समग्रता चाहिए। बौद्धिक विकास की बात बहुत अच्छी है किन्तु उसके साथ-साथ शरीरबल, मनोबल और वचनबल का भी विकास होना चाहिए। उनके विकास का पहला सूत्र है—श्वासबल का विकास और श्वासबल के विकास का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास का प्रयोग।

मैं मनुष्य हूं (२)

मनुष्य की विशिष्टता का एक हेतु है—चेतना विकास का बोध और उसकी क्रियान्विति। प्राणी जगत् मे चेतना है, किन्तु चेतना के विकास का बोध नही है और करने की क्षमता भी नही है। उसके पास कोई साधन भी नही है। मनुष्य ने निरन्तर अपनी चेतना का विकास किया है। उसे चेतना-विकास का बोध भी है और उसके पास विकास का साधन भी है।

दो स्तर हैं—एक है—सवेदन का स्तर और दूसरा है—चेतना का स्तर। प्राणियो में प्रधानतया सवेदना होती है। वे सवेदन के स्तर पर जीते हैं। उनमें सवेदना अधिक और ज्ञान कम होता है। मनुष्य मे सवेदना और ज्ञान—दोनो होते हैं। सवेदना पर नियत्रण करना और ज्ञान का विकास करना—यह मनुष्य की मौलिक विशेषता है। पशु केवल सवेदन करता है। वह सुख-दु ख भोगता है, किन्तु उसमे ज्ञान का विकास नही है। सुख-दु ख के अनुभव से परे जा सके वैसी चेतना का विकास उसमें नही है। पशु मे जो है वह सहज सयम है, किन्तु सयम का विकास नही है, सयम विकास की चेतना भी नही है। पशु के सामने चारा आएगा, खाद्य आएगा, भूख होगी तो खा लेगा। भूख नही है तो नही खाएगा। किन्तु भूख होने पर भी न खाए, यह चेतना उसमे नही है। भूख होने पर खाना, भूख न होने पर न खाना और भूख होने पर भी न खाना—ये तीन बाते हैं। पशु मे यह तीसरी बात नही है। यह सही है कि पशु भूख लगने पर ही खाते हैं, भूख के बिना नही खाते। पर मनुष्य की चेतना ने यह भी विकास किया है कि भूख लगने पर भी नहीं खाता और भूख न लगने पर भी खा लेता है।

एक डॉक्टर ने भोज का आयोजन किया। नगर के सभ्रात व्यक्ति भोज मे सम्मिलित हुए। भोज के प्रारम्भ मे डॉक्टर ने कहा—'सबके सामने भोजन परोस दिया गया है। भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व हम सब एक बात सोच लें कि हमे पशु की तरह खाना है या मनुष्य की तरह।' सारे लोग असमजस मे पड गए। वे डॉक्टर के आशय को समझ नही सके। डॉक्टर ने अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहा - पशु की तरह खाने का तात्पर्य है जितनी भूख है उतना खाना और मनुष्य की तरह खाने का तात्पर्य है भूख न होने पर भी खाते जाना।

भूख होने पर भी न खाना – मनुष्य की अपनी विशेपता है। उपवास का विकास इसी मौलिक विशेपता के आधार पर हुआ है। भूख है, फिर

भी आदमी दो दिन का उपवास, पाच-दस दिन का उपवास, चालीस-पचास दिन का उपवास कर लेता है। कुछ भी नही खाता। संयम कर लेता है। सयम चेतना के विकास का एक विन्दु है। जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढा है, वैसे-वैसे उसने सयम की चेतना का विकास किया है, विवेक का विकास किया है।

प्राणी की एक विशेषता है—इच्छाशक्ति। यदि हम दार्शनिक दृष्टि से सोचे—प्राणी का सीधा-साधा लक्षण क्या हो सकता है तो यह स्पष्ट होगा—चिन्तन, स्मृति और कल्पना—यह प्राणी का लक्षण नही बन सकता। जो चिंतन करता है, जिसमे स्मृति है और जो कल्पना कर सकता है, वह प्राणी है, ऐसा नही कहा जा सकता। चिन्तन, स्मृति और कल्पना अप्राणी मे भी होती है। अचेतन मे स्मृति है, चिन्तन है और कल्पना है। कम्प्यूटर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आज का विकसित कम्प्यूटर स्मृति का बहुत बडा माध्यम है। आज के लोग तथ्यो और आकड़ों को याद रखने के झंझट मे नही जाते, वे सारे तथ्य और आकडे कम्प्यूटर मे डाल देते हैं और जब आवश्यकता होती है तब बटन दबाकर उनको प्राप्त कर लेते हैं। तथ्य और आकड़े ज्यो के त्यो सामने आ जाते हैं। न विस्मृति का भय और न तथ्यो के खो जाने का भय। सब कुछ निश्चित।

कल्पना की चेतना भी आज कम्प्यूटर मे सन्निहित है। कम्प्यूटर रोग का निदान भी करेगा और औषधि का सुझाव भी देगा। स्वास्थ्य के लिए अनुकूल और प्रतिकूल दोनो तथ्य प्रस्तुत करेगा। वह केवल निदान ही नही करता, रोगोपशमन का उपाय भी करता है।

कम्प्यूटर चिन्तन भी करता है। वह कविता भी करता है, लेख भी लिखता है।

स्मृति, चिन्तन और कल्पना—यह प्राणी का लक्षण नही बन सकता। लक्षण वह होता है जो लक्ष्य मे ही प्राप्त हो, लक्ष्य से परे प्राप्त न हो। जो लक्ष्य से अतिरिक्त मे भी प्राप्त होता है, वह उस वस्तु का लक्षण नही बन सकता।

प्राणी का लक्षण है—इच्छाशक्ति। यह ऐसा लक्षण है जो चेतन मे ही मिलता है, अचेतन मे नही मिलता। कम्प्यूटर अचेतन है। उसमे और बहुत सारी बाते मिलती हैं किन्तु इच्छाशक्ति नही मिलती। इच्छा का उदय केवल चेतन मे ही होता है।

मनुष्य प्राणी है। उसमे इच्छा है। पशु-पक्षी भी प्राणी है। उनमे भी इच्छा है। जैसे-जैसे चेतना का विकास हुआ, मनुष्य ने इच्छा सयम का सूत्र सीखा। उसने परिज्ञा सीखी, विवेक सीखा। ये दो शब्द दो छोर पर है। एक शब्द है इच्छा और दूसरा शब्द है परिज्ञा या विवेक। इच्छा होना

एक बात है विवेक करना दूसरी बात है। परिज्ञा दो प्रकार की होती है। एक है जानने वाली परिज्ञा और दूसरी है प्रत्याख्यान करने वाली परिज्ञा, छोडने वाली परिज्ञा। जानना ठीक है, किन्तु छोडना, त्याग करना, प्रत्याख्यान करना—यह चेतना का बहुत बडा विकास है। जिसमे ज्ञान की क्षमता है, वह घटना को जान लेता है। घटना को जान लेना एक बात है, किन्तु जानने के साथ-साथ घटना मे बहना, उसे न भोगना, यह दूसरी बात है। यह चेतना का नया आयाम है, चेतना का बड़ा विकास है।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—ज्ञाता और भोक्ता। कुछ मनुष्य ज्ञाता भी होते हैं और भोक्ता भी होते है। कुछ मनुष्य ज्ञाता होते है पर भोक्ता नही होते है। जानना और भोगना—यह प्राणी का सामान्य लक्षण है।

पशु पर किसी ने आक्रमण किया, प्रहार किया। उसे पीटा। पशु भी आक्रोश में आ जाएगा, क्योकि उसने घटना को जाना है, भोगा है, इसीलिए उसमें प्रतिक्रिया होती है। पशुओ मे घोर प्रतिशोध की भावना होती है। ऊंट और भैंस मे प्रतिशोध की तीव्र भावना होती है। वर्षो बाद भी वे प्रतिशोध लेते है। यह भावना इसीलिए पैदा होती है कि वे घटना को जानते है, भोगते हैं।

प्राणी की सामान्य प्रकृति है—घटना को जानना और भोगना। किन्तु जिन प्राणियो मे चेतना का विकास हुआ, उन्होने इस दिशा मे और अधिक विकास किया कि घटना को जान लेना किन्तु उसे भोगना नही। ज्ञाता मात्र रह जाना, भोक्ता नही बनना। यह बडा विकास है। साधना के द्वारा चेतना को नया आयाम दिया गया— घटना के साथ-साथ बहना नही घटना को भोगना नही, घटना को मात्र जान लेना।

ध्यान का, दर्शन या प्रेक्षा का तात्पर्य है घटना को जान लेना, अनुभव कर लेना।

प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत हम शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। प्रश्न होता है शरीर को क्या देखना ? हमे शरीर को नही देखना है। शरीर के रंग-रूप को नही देखना है, आकार-प्रकार को नही देखना है। शरीर मे होने वाली घटनाओ को देखना है। हमारा शरीर एक पदार्थ है, वस्तु है। जो वस्तु है उसमे विविध प्रकार की घटनाएं घटित होती रहती है। हमारे शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते है। शरीर मे ऊर्जा के द्वारा नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते है। विविध पर्याय उदित होते है। तापमान घटता-बढता है। इस प्रकार के और भी अनेक परिवर्तन होते है। इन सब परिवर्तनो को जानना, उनके प्रति जागरूक होना, यह चेतना का बडा विकास है।

हमारे ध्येय दो होते है—बाह्य जगत् यानी वस्तु जगत् और अन्त-

जंगत् यानी चेतना जगत् । हम बाहरी जगत् को भी जानते है, उसमे होने वाले परिवर्तनो को भी जानते है । वैसे ही हम अन्तर्जगत् मे होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को भी जान सकते हैं । किन्तु जो व्यक्ति ध्यान के अभ्यास से नहीं गुजरता, वह सदा बाह्य जगत् के परिवर्तनो को जानेगा, भीतर मे होने वाले परिवर्तनो को नही जान पायेगा । जब बाह्य जगत् ही ध्येय बना रहता है तब बहिर्मुखता बनी रहती है । दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जब तक व्यक्ति बहिर्मुख होता है तब तक उसका ध्येय वस्तु जगत् ही बना रहता है । अन्तर्मुखता के बिना आन्तरिक जगत् को ध्येय नही बनाया जा सकता । ध्यान का एक अर्थ होता है—बाह्य जगत् को ध्येय बनाने के साथ-साथ अन्तर्जगत् को भी ध्येय बना लेना । श्वास से होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को जानना, शरीर मे होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को जानना—यह प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया है । इससे आगे बढने का रास्ता सरल बन जाता है । ये सारी प्रक्रियाए भारतीय योग की थाती थीं । लोगो ने इनको विस्मृत कर दिया । आज पश्चिम के लोग यत्रो के माध्यम से अपने अन्तर्जगत् को जानने का प्रयत्न कर रहे है । वे "बायो-फीडबेक" पद्धति के द्वारा अपने भीतर होने वाली घटनाओ और परिवर्तनो को जनाने का प्रयत्न कर रहे है और फिर उन्हे बदलने का प्रयत्न कर रहे है । तापमान को घटाना, बढाना, नाडी की गति को तीव्र करना या मद करना, फिर उनके लिए सरल बन जाता है । जहा दर्द है, उसका अनुभव करना, उसको कम करना, यह सभव है । भीतर मे असख्य घटनाए घटित होती रहती है, परन्तु ध्यान के बिना उन्हे पकडा नही जा सकता । यह सही है कि आदमी निकट मे होने वाली घटनाओ को नही देखता, जानता । प्रचलित कहावत है—आदमी पर्वत पर लगी आग को देख लेता है, पर पैरो तले जल रही आग को नही देख पाता । आदमी बाह्य जगत् से जितना परिचित है उतना ही वह आतरिक जगत् से अपरिचित है । आदमी अपने अस्तित्व से भी अपरिचित है । वह अपने आपको नही जानता ।

आदमी अपने अस्तित्व के साथ सपर्क स्थापित कर सकता है । उसकी भी एक प्रक्रिया है । बिना उस प्रक्रिया से गुजरे, हजार प्रयत्न करने पर भी कोई अपने अस्तित्व को नही जान सकता । उस प्रक्रिया का पहला हेतु है—स्वार्थ । स्वार्थ बाहर भी जाता है और भीतर भी जाता है । वह उभयमुखी सेतु है । वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् के माध्यम का सेतु है । जो व्यक्ति बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् मे प्रवेश पाना चाहता है उसे इस मध्यवर्ती सेतु का उपयोग करना ही होगा ।

अन्त प्रवेश का दूसरा माध्यम बनता है—शरीर । शरीर को देखना, जानना एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । शरीर को देखने का अर्थ यह नही है कि

एक बात है विवेक करना दूसरी बात है। परिज्ञा दो प्रकार की होती है। एक है जानने वाली परिज्ञा और दूसरी है प्रत्याख्यान करने वाली परिज्ञा, छोड़ने वाली परिज्ञा। जानना ठीक है, किन्तु छोडना, त्याग करना, प्रत्याख्यान करना—यह चेतना का बहुत बडा विकास है। जिसमे ज्ञान की क्षमता है, वह घटना को जान लेता है। घटना को जान लेना एक बात है, किन्तु जानने के साथ-साथ घटना मे बहना, उसे न भोगना, यह दूसरी बात है। यह चेतना का नया आयाम है, चेतना का बडा विकास है।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—ज्ञाता और भोक्ता। कुछ मनुष्य ज्ञाता भी होते हैं और भोक्ता भी होते हैं। कुछ मनुष्य ज्ञाता होते हैं पर भोक्ता नही होते हैं। जानना और भोगना—यह प्राणी का सामान्य लक्षण है।

पशु पर किसी ने आक्रमण किया, प्रहार किया। उसे पीटा। पशु भी आक्रोश में आ जाएगा, क्योंकि उसने घटना को जाना है, भोगा है, इसीलिए उसमें प्रतिक्रिया होती है। पशुओ मे घोर प्रतिशोध की भावना होती है। ऊंट और भैंस में प्रतिशोध की तीव्र भावना होती है। वर्षो बाद भी वे प्रतिशोध लेते हैं। यह भावना इसीलिए पैदा होती है कि वे घटना को जानते हैं, भोगते हैं।

प्राणी की सामान्य प्रकृति है—घटना को जानना और भोगना। किन्तु जिन प्राणियो मे चेतना का विकास हुआ, उन्होने इस दिशा मे और अधिक विकास किया कि घटना को जान लेना किन्तु उसे भोगना नहीं। ज्ञाता मात्र रह जाना, भोक्ता नही बनना। यह बड़ा विकास है। साधना के द्वारा चेतना को नया आयाम दिया गया—घटना के साथ-साथ बहना नहीं घटना को भोगना नहीं, घटना को मात्र जान लेना।

ध्यान का, दर्शन या प्रेक्षा का तात्पर्य है घटना को जान लेना, अनुभव कर लेना।

प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत हम शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। प्रश्न होता है शरीर को क्या देखना ? हमे शरीर को नही देखना है। शरीर के रंग-रूप को नही देखना है, आकार-प्रकार को नही देखना है। शरीर में होने वाली घटनाओ को देखना है। हमारा शरीर एक पदार्थ है, वस्तु है। जो वस्तु है उसमे विविध प्रकार की घटनाएं घटित होती रहती हैं। हमारे शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते है। शरीर में ऊर्जा के द्वारा नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। विविध पर्याय उदित होते हैं। तापमान घटता-बढता है। इस प्रकार के और भी अनेक परिवर्तन होते हैं। इन सब परिवर्तनो को जानना, उनके प्रति जागरूक होना, यह चेतना का बडा विकास है।

हमारे ध्येय दो होते है—बाह्य जगत् यानी वस्तु जगत् और अन्त-

जगत् यानी चेतना जगत् । हम बाहरी जगत् को भी जानते है, उसमें होने वाले परिवर्तनो को भी जानते है । वैसे ही हम अन्तर्जगत् मे होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को भी जान सकते है । किन्तु जो व्यक्ति ध्यान के अभ्यास से नही गुजरता, वह सदा बाह्य जगत् के परिवर्तनो को जानेगा, भीतर मे होने वाले परिवर्तनो को नही जान पायेगा । जब बाह्य जगत् ही ध्येय बना रहता है तब बहिर्मुखता बनी रहती है । दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जब तक व्यक्ति बहिर्मुख होता है तब तक उसका ध्येय वस्तु जगत् ही बना रहता है । अन्तर्मुखता के बिना आन्तरिक जगत् को ध्येय नही बनाया जा सकता । ध्यान का एक अर्थ होता है—बाह्य जगत् को ध्येय बनाने के साथ-साथ अन्तर्जगत् को भी ध्येय बना लेना । श्वास से होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को जानना, शरीर मे होने वाले परिवर्तनो और परिणामो को जानना—यह प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया है। इससे आगे बढने का रास्ता सरल बन जाता है । ये सारी प्रक्रियाए भारतीय योग की थाती थी । लोगो ने इनको विस्मृत कर दिया । आज पश्चिम के लोग यन्त्रो के माध्यम से अपने अन्तर्जगत् को जानने का प्रयत्न कर रहे है । वे "बायो-फीडबेक" पद्धति के द्वारा अपने भीतर होने वाली घटनाओ और परिवर्तनो को जनाने का प्रयत्न कर रहे है और फिर उन्हे बदलने का प्रयत्न कर रहे है । तापमान को घटाना, बढाना, नाडी की गति को तीव्र करना या मद करना, फिर उनके लिए सरल बन जाता है । जहा दर्द है, उसका अनुभव करना, उसको कम करना, यह सभव है । भीतर मे असख्य घटनाए घटित होती रहती है, परन्तु ध्यान के बिना उन्हे पकडा नही जा सकता । यह सही है कि आदमी निकट मे होने वाली घटनाओ को नही देखता, जानता । प्रचलित कहावत है—आदमी पर्वत पर लगी आग को देख लेता है, पर पैरो तले जल रही आग को नही देख पाता । आदमी बाह्य जगत् से जितना परिचित है उतना ही वह आतरिक जगत् से अपरिचित है । आदमी अपने अस्तित्व से भी अपरिचित है । वह अपने आपको नही जानता ।

आदमी अपने अस्तित्व के साथ सपर्क स्थापित कर सकता है । उसकी भी एक प्रक्रिया है । बिना उस प्रक्रिया से गुजरे, हजार प्रयत्न करने पर भी कोई अपने अस्तित्व को नही जान सकता । उस प्रक्रिया का पहला हेतु है—स्वार्थ । स्वार्थ बाहर भी जाता है और भीतर भी जाता है । वह उभयमुखी सेतु है । वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् के माध्यम का सेतु है। जो व्यक्ति बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् मे प्रवेश पाना चाहता है उसे इस मध्यवर्ती सेतु का उपयोग करना ही होगा ।

अन्त प्रवेश का दूसरा माध्यम बनता है—शरीर । शरीर को देखना, जानना एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । शरीर को देखने का अर्थ यह नही है कि

शीशे के सामने खडे होकर अपनी प्रतिछाया को देखना, रूप-रग को देखना, आकार-प्रकार को देखना। इनको देखना खुली आखो से होता है। शरीर प्रेक्षा की क्रिया वन्द आखो से की जाने वाली प्रक्रिया है। न शीशे के सामने खड़े होना है, न प्रतिविम्व को देखना है और न आखे खुली रखनी है। किन्तु हम खुली आंखो से देखने के अभ्यासी हैं। प्रतिबिम्वो को देखते-देखते हमारी चेतना भी प्रतिबिम्व की चेतना वन गई है। मूल चेतना खो गई। प्रतिविम्व और परछाइयो की चेतना हस्तगत हो गई। हम परछाई को पकडना चाहते हैं। सामान्यतः परछाई पकड़ मे नही आती, उसको पकड़ने के भी उपाय हैं।

एक बालक धूप मे खड़ा था। अपनी परछाई को देखकर उसके मन में कुतूहल हुआ। वह परछाई मे दीख रही अपनी चोटी को पकडने दौडा। परछाई भी दौड़ने लगी। बालक दौड़ता रहा, पर परछाई को पकड नही पाया। वह थक कर चूर हो गया। इतने मे पिता ने उसे देख लिया। वे आए। बालक बोला—मै परछाई मे दीख रही चोटी को पकडना चाहता हू, पर वह पकड़ मे आती ही नही। पिता ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—अभी पकड़ मे आ जाएगी। तुम दौड़ो मत, ठहर जाओ। बालक ठहर गया। पिता ने उसका हाथ पकडा, हाथ को सिर पर ले जाकर चोटी पकड़वा दी। अब परछाई की चोटी भी बालक के हाथ मे थी।

परछाई या प्रतिबिम्ब को नही पकडा जा सकता। जब मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बो की चेतना बन जाती है तब भ्रम उत्पन्न होते हैं, अनेक भ्रातिया पनपती हैं।

ध्यान की साधना यथार्थ की साधना है, प्रतिबिम्ब से परे जाने की साधना है। हम प्रतिबिम्बो मे ही उलझते न रहे, मूल तक पहुचने का प्रयत्न करे। वर्तमान जीवन की समस्याए, फिर वे सामाजिक हो या आर्थिक, सामूहिक हो या वैयक्तिक, प्रतिबिम्बो के आस-पास चक्कर काटती है। यदि यथार्थ को पकड़ा जा सके तो अनेक समस्याओ का समाधान पाया जा सकता है। आज की स्थिति यह है कि मूल निर्मूल्य हो रहा है और प्रतिविम्ब मूल्यवान् माना जा रहा है—

मूलस्पर्शो न खलु सुलभो दृष्टिरेषास्ति मुग्धा,
प्रायो लोकः प्रतिकृतिरतो मूल्यदाने विचक्षुः।
चित्रं मूल्यं नयति विपुलं चैकतश्चित्रकक्षे,
यस्या नार्या मुहुरवमता भिक्षते चैकतः सा।

एक कलाकार ने गाव की एक सुन्दर स्त्री का चित्र चित्रित किया। कालान्तर मे उस चित्र को अपनी चित्र-प्रदर्शनी मे रखा। एक व्यक्ति ने उसे दस हजार मे खरीद लिया। वह चित्र लेकर बाहर आया। एक भिखारिन

भीख माग रही थी उसने उसे दुत्कारा। उस भिखारिन की दृष्टि चित्र पर पडी। उसी का वह चित्र था। मूल को दुत्कार मिल रही है और प्रतिबिम्ब दस हजार का मूल्य पा रहा है।

ध्यान का अर्थ है—यथार्थ का अनुभव। इसमे कल्पना की आवश्यकता ही नही है। श्वासप्रेक्षा मे श्वास का अनुभव करते हैं। यह यथार्थ है। इसमे कल्पना को अवकाश नही है। शरीर प्रेक्षा मे, शरीर मे घटित होने वाले परिवर्तनो का अनुभव करते है। यह यथार्थ है, इसमे कल्पना की जरूरत ही नही है। ध्यान मे यथार्थ के साथ-साथ चलना है। कल्पना का भी अपना मूल्य होता है, किन्तु यथार्थ को छोडकर केवल कल्पना मे ही बहते जाना उचित नही है। इस स्थिति मे कल्पना भी भयकर बन जाती है। यथार्थ की छाया मे कल्पना भी कुछ काम दे सकती है। केन्द्र मे यथार्थ होगा तो कल्पना भी उपयोगी बन सकती है। केन्द्र मे कल्पना नही होनी चाहिए।

मनुष्य ने ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, जानने वाली दृष्टि और त्यागने वाली दृष्टि का विकास किया। इसी के आधार पर समूचे दर्शन का विकास हुआ है। आज दर्शन का अर्थ भी बदल गया है। उसका अर्थ मात्र जानना रह गया है। पुस्तकीय ज्ञान को ही दर्शन मान लिया गया है। उसमें अनुभव को कोई महत्त्व नही मिला।

भारत मे दर्शन की चेतना का विकास सयम, अहिंसा, अस्तित्वगत एकता या समानता के साथ हुआ था। यही दर्शन की महत्ता है। जहा अस्तित्वगत एकता या समानता की अनुभूति नही होती, वह दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम या तर्कशास्त्र की प्रणाली मात्र रह गया है। आज मैं दर्शन को तर्कशास्त्र से भिन्न नही देख रहा हू। दर्शन का अर्थ ही हो गया तर्कशास्त्र। आज के दर्शन का विद्यार्थी जानता है कि तर्क को छोडने के बाद दर्शन मे शेष कुछ नही बचता। प्रारम्भ से अन्त तक तर्क ही तर्क। तर्क द्वारा समर्थन और विरोध, खण्डन और मण्डन।

आज की प्रमुख चर्चा होती है कि धर्म की कसौटी तर्क या बौद्धिकता होनी चाहिए। जो धर्म तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतरे, वह धर्म नही हो सकता। यह बात प्रारम्भ मे ठीक लगती है। कोई भी आदमी किसी भी सचाई को स्वीकारता है तो उसकी कसौटी होती है तर्क और बुद्धि। तर्क और बुद्धि के आधार पर दर्शन की कुछ यात्रा की जा सकती है। वे सीढिया बन सकती है। कुछ दूर आरोहण करने के लिए, पर वे शिखर तक नही पहुचा पाती। सीढियो से दो-चार मजिलो तक पहुंचा जा सकता है। परन्तु जहा सौ मजिले मकान पर चढ़ने की बात आए, वहा सीढ़ियो से चढ़ पाना दुरूह हो जाता है। आदमी थक कर चूर हो जाता है। आज की स्थिति तो ऐसी बन गई है आदमी दुमजिले या चार मजिले मकान

पर भी सीढ़ियो से चढ़ना नही चाहता । वह लिफ्ट का प्रयोग करके ही ऊपर जाता है । जब लिफ्ट खराब हो जाती है तब ऊपर चढ़ पाना मुश्किल हो जाता है । सीढियां आरोहण का माध्यम है । माध्यम अन्तत माध्यम ही होता है । कोई भी एक माध्यम कभी सार्वभौम नही हो सकता । वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी नही हो सकता ।

तर्क और बुद्धि आरोहण के माध्यम हैं । उनके सहारे हम आरोहण कर सकते हैं । हम चेतना की कई मंजिलो को, कई स्तरो को उनके माध्यम से पार कर सकते है । किन्तु उनके सहारे हम अन्तिम लक्ष्य तक नही पहुच सकते । यह सभव नही हो सकता । जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ेगे, तर्क और बुद्धि—दोनो कृतकार्य होकर नीचे ही रह जाएगे । इसका स्पष्ट अनुमान हमे हो जाएगा । जो व्यक्ति अनुभव की चेतना को विस्मृत कर केवल तर्क और बुद्धि की चेतना के सहारे ऊपर जाता है, वह कुछ दूरी को पार अवश्य कर सकता है, पर मूल को स्पर्श नही कर पाता, ताला खोल नही पाता । चेतना का वह ताला अनुभव की चावियो से खुलता है ।

हमारे समक्ष दो स्थितिया है । एक है तर्क और बुद्धि के विकास की और दूसरी है अन्तर प्रज्ञा के विकास की । ध्यान के बिना अन्तर् प्रज्ञा या अन्तर्वृत्ति का विकास नही हो सकता । अन्तर्वृत्ति के विकास के बिना सही अर्थ मे दर्शन का विकास नही हो सकता । आज की शिक्षण-सस्थाओ के दर्शन विभाग केवल तर्क और बुद्धि को तीखा बनाने वाले विभाग है । बुद्धि का काम है—स्मृति और तर्क को तीक्ष्ण बना देना । शस्त्र को तीक्ष्ण बनाना एक बात है और तीखे शस्त्र का प्रयोग कब, कहा करना है, यह दूसरी बात है । शस्त्र की महत्ता उपयोग पर निर्भर होती है । तीखे शस्त्र से ऑपरेशन भी किया जा सकता है और दूसरे का प्राण-हरण भी किया जा सकता है । तीखे शस्त्र से उबारा जा सकता है और मारा भी जा सकता है । यहां आदमी के सामने दो स्थितिया आ जाती है । उसने शस्त्र की धार को तेज किया पर उपयोग की चेतना मे परिवर्तन नही आया तो वह शस्त्र घातक बन जाता है, मारक बन जाता है । शस्त्र-निर्माण का समूचा इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य का कोरा ज्ञान, कोरी शस्त्र की चेतना उसको विनाश के कगार पर ले जाकर खड़ा कर देती है । जब तक आदमी मे प्रत्याख्यान परिज्ञा, छोडने की चेतना का जागरण नही होता, सयम की चेतना नही जागती तब तक वह विनाश से बच नही सकता । इसलिए दर्शन के साथ दोनो बाते जुड़ी होगी—तार्किक चेतना और अनुभव की चेतना । वह दर्शन नही हो सकता जो केवल बौद्धिक और तार्किक चेतना का विकास करता है । वही दर्शन दर्शन हो सकता है जो बौद्धिक और तार्किक चेतना के विकास के साथ-साथ दोनो के द्वारा उत्पन्न परिणामो पर नियत्रण रखने की क्षमता का विकास करता है । ऐसा होने पर

ही हमारी चेतना के विकास की सार्थकता है।

ध्यान का प्रयोग चेतना के विकास का प्रयोग है, दर्शन का प्रयोग है। आज यह सद्यस्क अपेक्षा है कि आज के दार्शनिक दर्शन को नए परिप्रेक्ष्य मे समझने का प्रयत्न करे। केवल पुरानी बातों से काम नही चलेगा। प्राचीन समय की बाते दर्शन की परिधि मे आती है, किन्तु मध्ययुगीन दर्शन यथार्थ दर्शन नही रहा। वह केवल बौद्धिक ही बना रहा। उसमे से अनुभव की चेतना लुप्त हो गई। उस दर्शन ने तर्क को बहुत आगे बढ़ा दिया। हमारे प्राचीन दार्शनिक बौद्धिक और तार्किक बल के धनी न भी थे, पर वे ऋषि थे, द्रष्टा थे। ऋषि ही वास्तव मे दार्शनिक होता है। ऋषि की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'ऋषिर्दर्शनात्'—ऋषि वह होता है, जिसमे दर्शन की क्षमता होती है, जो द्रष्टा होता है। जो द्रष्टा नही होता, जो देखने वाला नही होता वह ऋषि नही हो सकता। वह मुनि और तपस्वी नही हो सकता। उसमे दर्शन की—साक्षात्कार करने की क्षमता होनी चाहिए।

साक्षात्कार करने की प्रक्रिया भारतीय साधना-पद्धति की धुरी है। यहा के साधक परोक्ष मे कम विश्वास करते थे, साक्षात्कार या प्रत्यक्ष मे अधिक विश्वास करते थे। मध्ययुग मे यह बात उलट गई। उस समय मे दार्शनिक साक्षात्कार की प्रक्रिया को महत्त्व न देकर तर्क के आधार पर तथ्यो का मडन करने लगे। दर्शन या साक्षात्कार पर भरोसा नही रहा, केवल तर्क और बुद्धि पर भरोसा बढता गया। अनेक कारणो मे यह भी एक कारण रहा है भारत के पिछडने का। आज जो विकसित राष्ट्र है, उनके विकास की भित्ति साक्षात्कार पर आधृत है। साक्षात्कार अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा भी हो सकता है और सूक्ष्म उपकरणो के द्वारा भी हो सकता है। पश्चिम के लोगो ने साधना के द्वारा अतीन्द्रिय चेतना का विकास नही किया, किन्तु ऐसे सूक्ष्म यत्रो का निर्माण किया कि उनके माध्यम से अतीन्द्रिय पदार्थों का, तत्त्वो का ज्ञान करने मे वे सफल हो गए। आज वे सूक्ष्म यत्र अतीन्द्रियज्ञान के स्थानापन्न है। जब मुख्य चला जाता है तब स्थानापन्न व्यक्ति उस कार्य का सचालन कर लेता है। आज के सूक्ष्म वैज्ञानिक यत्र अतीन्द्रिय ज्ञान के स्थान पर काम कर रहे है। उनके माध्यम से वैज्ञानिक अनेक तथ्यो का साक्षात्कार कर उन्हे जगत् के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं।

आज दार्शनिक जगत् वैज्ञानिक जगत् से पिछड गया है। आज दर्शन इसलिए निस्तेज हो गया कि उसने साक्षात्कार की प्रक्रिया को छोड़ दिया। विज्ञान इसलिए आकर्षण का केन्द्र बन गया कि उसने साक्षात्कार की प्रक्रिया को नही छोडा। जिनके साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया नही होती, जो केवल अनुमान के आधार पर चलता है, वह बहुत आगे तक नही पहुच पाता और अतिसूक्ष्म सत्यो को नही पकड़ पाता। सूक्ष्म सत्यो को साक्षात्कार की प्रक्रिया

के द्वारा ही पकडा जा सकता है, समझा जा सकता है। वे तर्क और बुद्धि के विषय नही बनते। यदि दर्शन के साथ फिर साक्षात्कार की बात जुड जाए तो यह स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान की दूरी मिट सकती है।

दर्शन पिता माना जाता है और विज्ञान पुत्र। किंतु आज पुत्र विज्ञान इतना तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी बन गया है कि लोग पिता दर्शन को भूल ही गए। पिता कही कोने मे बैठा रो रहा है और पुत्र सारे संसार पर एकछत्र नियंत्रण कर रहा है।

ध्यान का प्रयोग दर्शन को पुनः अपने मूल स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयोग है। वह पुनः अपने सिंहासन पर आरूढ हो सकता है, अपनी खोई हुई तेजस्विता को प्राप्त कर सकता है, यदि उसके साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया जुड जाए। ध्यान साक्षात्कार का अचूक माध्यम है। ध्यान के अभ्यास के बिना साक्षात्कार की घटना घटित नही हो सकती।

ध्यान की प्रारभिक अवस्था मे साधक को कुछ अटपटा-सा लगता है। उसे वह भूलभुलैया प्रतीत होता है। ऐसा होना अस्वाभाविक नही है, बहुत स्वाभाविक है। क्योकि जिस व्यक्ति ने चेतना की गहराई मे जाना सीखा ही नही, उसे ध्यान की सारी प्रक्रिया अटपटी ही लगेगी। ऐसा लगना स्वाभाविक है, क्योकि आज का आदमी चेतना के स्तर पर जी रहा है, उस स्तर मे ये सारी बाते होती है। हम इस बात को कभी विस्मृत न करें कि उस चेतना के स्तर पर जीने वाला कोई भी व्यक्ति, फिर चाहे हजार वर्ष भी बीत जाएं, कभी विकास नही कर सकता। विकास का मूल मत्र है—स्थूल से सूक्ष्म मे प्रवेश करना, स्थूल जगत से हटकर सूक्ष्म जगत् की यात्रा करना। जिन लोगो ने सूक्ष्म की यात्रा नही की, जिन लोगो ने सूक्ष्म सत्यो का अनुभव नही किया और सूक्ष्म मे प्रवेश पाने का प्रशिक्षण नही लिया वे सदा काठ के घोड़े पर ही सवारी करने वाले रहेगे, जो कही नही पहुच पाता। वे कभी सूक्ष्म का स्पर्श नही कर सकेगे।

आवश्यक यह है कि शिक्षक की निष्ठा केवल पुस्तको पर या केवल स्थूल पर न रहे। पुस्तको से अतिरिक्त भी ज्ञान का स्रोत है, स्थूल से अतिरिक्त भी सूक्ष्म का कोई स्रोत है—इस बात पर भी उसकी निष्ठा बने। यह उभयपक्षीय निष्ठा मनुष्य को आगे बढ़ाती है। एकपक्षीय निष्ठा विकास को रोकती है।

हम चेतना के आयाम और विकास की चर्चा कर रहे है तथा उसी के संदर्भ में दर्शन की मीमांसा कर रहे हैं। दर्शन का अर्थ होगा साक्षात्कार तथा बौद्धिक और तार्किक विकास की मिलीजुली प्रक्रिया। दोनो आवश्यक है। बौद्धिक और तार्किक विकास भी आवश्यक है और साक्षात्कार भी आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति व्यक्ति ही नही है, वह

समाज भी है, वह समाज से जुडा हुआ है, समाज का घटक है। व्यक्ति अकेला नही है, वह दूसरा भी है। इस दृष्टि से स्वयं के लिए साक्षात्कार तथा दूसरे के लिए बुद्धि और तर्क। कल्पना करे कि किसी एक व्यक्ति मे साक्षात्कार की क्षमता है, वह सचाई को साक्षात् जानता है, पर उसके पास यदि बुद्धिबल और तर्कबल नही है तो उसका ज्ञान स्व तक ही सीमित रहेगा। वह अपने सत्य को दूसरे तक नही पहुचा पाएगा। वह अपने ज्ञान का संक्रमण नही कर सकता। उसको कम्यूनिकेट नही कर सकता। कम्यूनिकेशन के लिए बुद्धिवल और तर्कबल अत्यन्त अपेक्षित होता है। कोई व्यक्ति केवल वौद्धिक या तार्किक है तो वह सचाई तक नही पहुच पाता। सचाई को हस्तगत करने के लिए साक्षात्कार की वहुत आवश्यकता है। यदि कोरी बौद्धिकता और तार्किकता हो, सचाई न हो तो न अपना भला होता है और न दूसरे का भला होता है। आज दार्शनिक और धार्मिक जगत् मे बौद्धिकता और तार्किकता का साम्राज्य है। उसमे साक्षात्कार का बल नही है, इसीलिए विवाद और सघर्ष खडे हो रहे हैं। यदि साक्षात्कार का बल हो तो इतने मतभेद नही हो सकते, इतने विवाद और सघर्ष नही हो सकते।

सचाई को पाने के लिए साक्षात्कार जरूरी है और अपने अनुभव को दूसरो तक पहुचाने के लिए बुद्धि और तर्क जरूरी है।

एक तथ्य का प्रतिपादन कर देना या उसे कह देना अलग बात है और उसे दूसरे के गले उतार देना, हृदयगम करा देना दूसरी बात है। जहा हृदयगम कराने का प्रश्न आता है वहा बौद्धिक और तार्किक विकास बहुत जरूरी होता है। केवल कही हुई वात समझ मे नही आती, परन्तु जब उसे तर्क से समझाया जाता है तव वह सीधी गले उतर जाती है, आदमी समाहित हो जाता है।

शिष्य ने गुरु से पूछा—गुरुदेव! इतने लोग धार्मिक उपासना करते है, धर्म चर्चा करते है, प्रवचन सुनते है, पर उनके जीवन-व्यवहार में कोई परिवर्तन परिलक्षित नही होता। यह क्यो ?

वहुत गहरा प्रश्न था। तो आज भी यह प्रश्न खडा है। लगता है यह सार्वकालिक प्रश्न है। आज के धार्मिक जगत् की भी यही स्थिति है। लोग धर्म करते जा रहे हैं, पर उनके जीवन मे कोई रूपातरण घटित नही होता।

गुरु अनुभवी थे। उन्होने प्रश्न की गहराई तक प्रवेश किया और शिष्य से वोले—अच्छा प्रश्न है। एक काम करो। शराब से भरा एक घडा ले आओ। शिष्य किंकर्त्तव्यविमूढ होकर गुरु के चेहरे को देखता रहा। समझ नही पाया कि प्रश्न का और शराव के घडे का क्या सम्बन्ध हो सकता है? उसने आदेश का पालन किया। शराब का एक घडा ले आया। गुरु ने

कहा—सभी शिष्यो को यहा बुलाओ। सभी शिष्य वहा एकत्रित हो गए। गुरु ने आदेश की भाषा मे कहा—'प्रत्येक शिष्य इस शराव के घडे से एक-एक चुल्लू शराब मूह में ले और उसे तत्काल थूक दे।' सभी शिष्यो ने वैसा ही किया। घडा खाली हो गया। गुरु ने फिर एक-एक शिष्य से पूछा—किसी को नशा आया ? सभी शिष्य बोले—गुरुदेव ! नशा कैसे आता ? नशा तव आता जव शराब गले के नीचे उतरती। हमने तो उसे मुह मे लेकर ही थूक दिया था। उसे गले के नीचे उतारा ही नही फिर नशा कैसे आता ?

गुरु बोले—प्रश्न का उत्तर आ गया ?

शिष्य बोले—समझ मे नही आया।

गुरु बोले—आज घडे भर-भर कर धर्म किया जा रहा है और कुल्ले के रूप में थूका जा रहा है। वह गले के नीचे उतरता ही नहीं, वह हृदय का स्पर्श करता ही नही। तव उसके परिणाम कैसे आ सकते है ? जीवन मे रूपातरण कैसे घटित हो सकता है ? धर्म का भी अपना नशा होता है। वह कैसे आए ? जब तक धर्म का कथन गले के नीचे नही उतरता तव तक उसका असर नहीं हो सकता। धर्म को गले उतारने के लिए बुद्धिबल और तर्कबल अपेक्षित होता है। दोनो का समन्वय होना जरूरी है। मै उसी को दर्शन मानता हू और उसी को दार्शनिक मानता हूं, जिसमे साक्षात्कार तथा बौद्धिक और तार्किक बल दोनो का समन्वय होता है।

इस प्रकार मनुष्य की चेतना का विकास अनेक दिशाओ मे हुआ है, अत: उसके लिए जीवन और विज्ञान—दोनो पक्ष आवश्यक है। मनुष्य केवल प्राणी ही नही है। उसमे केवल प्राणवत्ता ही नही है, कोरा जीवन ही नही है। जीवन के साथ-साथ उसमे विज्ञान की क्षमता, अनुभव और विवेक की क्षमता और प्रत्याख्यान की क्षमता भी है। मनुष्य के लिए जीवन-विज्ञान का चुनाव किया जा सकता है। पशु-पक्षी के लिए इस विषय का चुनाव नही किया जा सकता।

आज यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षक-वर्ग मे ध्यान और ध्यान के साथ जीवन विज्ञान का समन्वय हो। इसी आधार पर वे नया चिन्तन देने में सक्षम हो सकते है। अभी-अभी राजस्थान के एजुकेशन कमीश्नर ए० के० भटनागर बैकाक जाकर आए है। बता रहे थे कि वहा की सरकार अपने कर्मचारियो के लिए ध्यान की व्यापक व्यवस्था पर चितन कर रही है। सभी देशो मे यह चिन्ता व्याप्त है कि आदमी के व्यवहार को, आचरण को कैसे बदला जाए। आज शिक्षको को ध्यान शिविर मे भाग लेते देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और माना कि यह सद्यस्क अपेक्षा है। आज व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र मे जो विभिन्न प्रकार की चिन्ताए व्याप्त है उससे मुक्त होने के लिए नए चिन्तन की जरूरत है, नए दर्शन की जरूरत है।

वह नया चिन्तन और नया दर्शन ध्यान और कर्म—दोनो का समन्वय ही हो सकता हैं। वह जीवन-विज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान—दोनो का समन्वय हो सकता हैं।

मै इसे वहुत कल्याणकारी उपक्रम मानता हू कि राजस्थान शिक्षा विभाग ने इस दिशा मे कदम उठाया है। इसके बहुत अच्छे परिणाम सम्भव हो सकते हैं।

मैं कुछ होना चाहता हूं

'मै मनुष्य हू'—इस विषय पर सक्षिप्त मीमासा हमने की। मैं कुछ होना चाहता हूं—यह हमारे सामने प्रश्न है। मनुष्य हू तो फिर पशु होना तो नही चाहता। मनुष्य हू तो वनस्पति जगत् मे जाना तो नही चाहता। उत्क्रमण के बाद अपक्रमण मे जाना कोई पसन्द नही करता। जब उत्क्राति हो जाती है तो अपक्रांति किसे पसन्द होगी। किसी को भी पसन्द नही होगी। हर व्यक्ति उत्तरोत्तर विकास चाहता है। मनुष्य देवता बनना चाहता है या मुक्त होना चाहता है। पर देवता होना कोई बडी बात नही है। देवता स्वयं चाहते है कि मनुष्य बने। हमारी भारतीय साहित्य की धारा मे अनेक बार यह गाया गया कि देवता स्वय इच्छा करते है कि वे मनुष्य बने और मनुष्य जन्म मे कुछ विशिष्ट उपलब्धिया करे, जो केवल मनुष्य जन्म में ही की जा सकती हैं, दूसरे जन्म मे नही की जा सकती। आध्यात्मिक चेतना का आरोहण विकास केवल मनुष्य जीवन मे ही सम्भव है, दूसरे जीवन मे सभव नही है। समृद्धि, वैभव अधिक हो सकता है, भोग-विलास अधिक हो सकता है, कुछ चामत्कारिक शक्तियां अधिक हो सकती है, पर निरन्तर चेतना को गतिशीलता, अहिंसा का विकास, अस्तित्व की अनुभूति और प्रत्येक अस्तित्व के प्रति सहानुभूति—यह केवल मनुष्य जन्म मे ही सम्भव है, अन्यत्र सभव नही है। इसीलिए प्रार्थना के स्वर मे कहा जाता है कि मनुष्य बने और आत्मिक उत्कर्ष को उपलब्ध हो।

'तुम क्या होना चाहते हो?' 'मनुष्य हू और सही अर्थ मे मनुष्य बनना चाहता हूं।' मनुष्य होना और सही अर्थ मे मनुष्य होना बिलकुल दो बातें है। आकार-प्रकार जाति से मनुष्य हू। किन्तु मनुष्यता का विकास नही होता तब तक मनुष्य होने की बात सदा सामने रहती है।

हमारी लाक्षणिकता है कि लक्ष्य के साथ जब तक पूरा लक्षण घटित नही होता तब तक सज्ञा का व्यपदेश नही होता, नामकरण नही होता। गोत्र के द्वारा 'गोत' होती है। मनुष्यत्व के द्वारा मनुष्य हो सकता है। मनुष्यत्व के अभाव मे, केवल आकार-प्रकार से मनुष्य नही हो सकता।

दो प्रकार के धर्म है—विशेष धर्म और सामान्य धर्म। सामान्य धर्म लक्षण नही बनता। विशेष धर्म ही लक्षण बनता है। मनुष्य मे विशेष धर्म मनुष्यत्व है, इसलिए वह मनुष्य है। यदि मनुष्यत्व नही है तो फिर मनुष्य होना भी सदिग्ध बन जाएगा। मनुष्य सही अर्थ मे मनुष्य होना चाहता है।

वह व्यवहार मे परिष्कार चाहता है, आचार मे परिष्कार चाहता है, संस्कार मे परिष्कार चाहता है, स्वभाव मे परिष्कार चाहता है।

हम सामाजिक प्राणी हैं, इसलिए आचार से पहले व्यवहार की बात हमारे सामने आती है। दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार कैसा है यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उसमे परिष्कार चाहते है। आचार अपना भी हो सकता है, दूसरे के प्रति भी हो सकता है। उसमे परिष्कार चाहते है। स्वभाव व्यक्तिगत होता है, मनुष्य उसमे परिष्कार चाहता है।

मनुष्य मे तीन दुर्बलताएं होती है—क्रूरता, विषमता और स्वय को हानि पहुचाने वाली प्रवृत्ति। ये तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं। पहली बात है क्रूरता। मैं व्यवहार मे परिष्कार चाहता हू—इसका अर्थ है कि व्यवहार मे क्रूरता है वहा कोमलता, मृदता चाहता हू—करुणा चाहता हूं। मेरा व्यवहार दूसरो के प्रति करुणा से भरा हुआ हो। क्रूरता का अश धुल जाए, धुलता चला जाए। क्रूरता समाप्त हो जाए। पूरी क्रूरता समाप्त हो जाए। आज की सारी विसगतिया, आज के सारे विरोधाभास, आज की सारी समस्याए—चाहे आर्थिक क्षेत्र मे है, चाहे राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र मे है उनका मूल उत्स है—मनुष्य की क्रूरता। क्रूरता के कारण ही आर्थिक कठिनाइया पैदा हो रही है। आज जो आर्थिक समस्याए हैं उनके मूल मे सबसे बडा कारण है—मनुष्य की क्रूरता। क्या क्रूरता के बिना कोई आदमी किसी को धोखा दे सकता है? किसी को लूट सकता है? मिलावट कर सकता है? रिश्वत ले सकता है? ये सारी बाते नही हो सकती। एक क्रूरता ऐसी प्रभावी हो गयी कि सब कुछ खाओ तो भी हजम हो जाता है। सब बुराइया हजम हो रही हैं। कभी सोचने का अवसर ही नही मिलता कि ऐसा नही होना चाहिए। एक बीमार पडा है मृत्यु-शय्या पर। पर जब तक अधिकारियो की पेट-पूजा नही हो जाती तब तक हॉस्पीटल मे भर्ती होना भी कठिन हो जाता है। एक आदमी को आवश्यक कार्य से कही यात्रा करनी है, पर जब तक पूरी भेंट-पूजा नही दे देता तब तक टिकट ही नही मिलती। एक व्यवसायी गायो को, भैंसो को बिना मौत मार सकता है। चारे मे ऐसी मिलावट करता है कि चारा खाते ही पशु मरने लग जाते हैं। क्या क्रूरता के बिना ऐसा सभव है? क्या आटे मे मिलावट, मसालो मे मिलावट, दाल मे मिलावट क्रूरता के बिना सभव है? कभी सभव नही है। यह सारी आर्थिक भ्रष्टाचार की कहानी, क्रूरता है।

हमारा व्यवहार शुद्ध हो। अणुव्रत आन्दोलन आचार-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि का आन्दोलन है। दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार क्रूरता से मुक्त हो और यदि वह क्रूरता से मुक्त होता है तो अनेक समस्याए अपने आप समाहित हो जाती है, फिर उनके समाधान खोजने की आवश्यकता

नही होती ।

दूसरी बात है—आचार में विषमता न हो। विषमता हमारी दूसरी समस्या है। आज विषमता से समूचा समाज पीडित है। बड़ी विषमता है। एक व्यक्ति के सामने इतनी समृद्धि है कि जिसका अंत नही। और दूसरे के पास अभाव की इतनी स्थिति कि उसका भी अन्त नही। हम जानते है कि जो भी प्राणी बना है, वह भोजन के बिना अपने जीवन की यात्रा को नही चला सकता। मनुष्य कैसे चलाएगा ? किन्तु मनुष्य के सामने विषमता के कारण ऐसी कठिनाइयां हैं कि जीवन-यात्रा को चलाने मे ही सारी प्राण-ऊर्जा समाप्त हो जाती है। शक्ति खर्च हो जाती है। कुछ काम करने के लिए बच ही नही पाती। नया काम कोई कैसे करे ? शक्ति रहती ही नही। सुबह से जगता है और सोता है तब तक सारी शक्ति उसी चिंता मे खप जाती है।

पशु चरने को जाते है, सुबह जाते हैं, शाम ३-४ बजे तक बेचारे ग्रास लेते जाते है और अपना पेट भरते हैं। फिर तो निश्चिन्त हो जाते है, किन्तु आदमी को खाने की, चरने की चिन्ता सोते हुए भी सताती है नीद मे भी सताती है। उठते भी सताती है, सोते हुए भी सताती है। चिन्ता निरतर बनी रहती है कि आज कैसे काम चलेगा ? इस विषमतापूर्ण आचरण ने एक समस्या उत्पन्न की है। आचार का परिष्कार चाहता हूं। इसका अर्थ है—समतापूर्ण आचार चाहता हू।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है—'समता परम आचरणम्।' आचार का सबसे बडा सूत्र है—समता, साम्यभाव, समानता। यह केवल समाजवाद या साम्यवाद का ही सूत्र नही है। यह हर चिंतन की अच्छाई का सूत्र है कि जहां समतापूर्ण मन स्थिति होती है वहा समाज का विकास होता है और जहा समाज की आचारधारा मे विषमता होती है वहा समाज का पतन होता है। आचार के परिष्कार का अर्थ है—समता का विकास।

तीसरी बात है कि स्वभाव का परिवर्तन चाहता हूं, सस्कार का परिवर्तन चाहता हू। वह स्वभाव जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक हानि पहुचाता है, शरीर को भी नुकसान देता है, कष्ट देता है, मन को भी संताप देता है, मन झुलस जाता है और आतरिक वृत्तियो को भी कष्ट देता है, उस स्वभाव से मुक्ति चाहता हू। स्वभाव की जटिलता के कारण मनुष्य सघर्ष मे से गुजरता है और उसकी एक भट्टी जलती रहती है, जिसकी आंच सदा प्रताडित करती रहती है। चूल्हे के सामने बैठने वाला व्यक्ति, रसोई बनाने वाला व्यक्ति गर्मी का अनुभव करता है। पर तभी जबकि वह चूल्हे के सामने बैठता है। किन्तु हमारे भीतर तो कई चूल्हे जल रहे हैं। कभी क्रोध का, कभी अहकार का, कभी वासना का तो कभी भय का। न

जाने कितने चूल्हे जल रहे है ! कितनी आच पक रही है । उस आंच के कारण स्वभाव विगडता जाता है और उसका परिणाम शरीर पर होता है तो शरीर रुग्ण हो जाता है। मन पर होता है तो मन रुग्ण हो जाता है और भावना पर होता है तो भावनाए रुग्ण हो जाती है। आन्तरिक वृत्तिया रुग्ण होती हैं। मै उनका परिष्कार चाहता हू। भाव का परिष्कार चाहता हू। इसका अर्थ होगा कि अपने आवेगो पर नियमन चाहता हू, आवेशो पर नियमन चाहता हू, अपने कपायो पर नियमन चाहता हू क्योकि इसी से एक सुखद स्थिति का निर्माण होगा।

एक डॉक्टर ने वीमार से कहा कि तम्बाकू पीना छोड दो। पास मे खडे व्यक्ति ने पूछा —डॉक्टर साहब ! तम्बाकू नही पीएगा तो क्या इससे यह ठीक हो जाएगा ? डॉक्टर ने कहा—और ठीक होगा या नही मुझे नही पता, किन्तु मेरा विल चुकाने की स्थिति मे जरूर आ जाएगा। इतना तो होगा। इतना धुम्रपान करता है तो अर्थ-शक्ति तो सारी धूम्रपान मे ही चुक जाती है। फिर बिल चुकाने की स्थिति मे ही नही रहते।

ये तीन परिष्कार है। प्रेक्षा-ध्यान का पूरा प्रयोग इन तीन परिष्कारों के लिए है कि व्यक्ति का व्यवहार वदले, आचार वदले और स्वभाव बदले। इसका दूसरा अर्थ होगा कि क्रूरता समाप्त हो और करुणा जागे। विषमता समाप्त हो और समता की चेतना जागे। आवेश समाप्त हो और सहिष्णुता तथा मानसिक शाति की चेतना जागे। इस अर्थ मे यह घोप हमारे सामने है कि 'मैं कुछ होना चाहता हू।' ऐसा मनुष्य होना चाहता हू कि जिसमे ये तथ्य प्रवाहित हो रहे हो। मृदुता की धारा, समता की धारा और शाति की धारा—यह त्रिवेणी जिसमे प्रवाहित हो रही है, ऐसा चेतना-सम्पन्न मनुष्य होना चाहता हू। यह हमारा एक नया प्रस्थान है। एक प्रायोगिक प्रस्थान। हम सिद्धात की बात वहुत करते है, बहुत रस लेते है क्योकि दिमागी व्यायाम मे जितना आनन्द मिलता है उतना प्रयोग मे नही मिलता। दिमागी कसरत करने मे वडी अच्छी वात होती है। सीधा काम है। उसमे कोई कष्ट नही होता। दो आदमी वैठे है—वातचीत शुरु की, उठे और बात समाप्त हो गई। कोई भी कष्ट नही होता। कुछ भी करना नही पडता। वस, केवल इतना करना पडता है—एक जीभ इधर चलती है, दूसरी जीभ सामने चलती है। तो केवल जीभ को ही चलाना पडता है, जीभ को ही व्यायाम देना पड़ता है। स्वर-यंत्र को, कठनली को ही व्यायाम देना पड़ता है, स्वर-स्थानो को व्यायाम देना पडता है और कुछ भी नही करना होता। प्रयोग मे तो वहुत खपना पडता है। प्रयोग की वात कठिन होती है। वातचीत और वाचिक विनिमय की वात सरल होती है। यह प्रायोगिक वात है, परिवर्तन की वात है। पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान करने की वात ही प्रायोगिक वात

है, इसके बिना, प्रयोग के बिना हमारा प्रस्थान नही हो सकता। हमारी चेतना तीन कोणो मे बराबर काम कर रही है। एक चेतना का वह कोण है जहा आदमी रोता है, विलाप करता है, दुःख का अनुभव करता है। दूसरा कोण है—जहा आदमी प्रसन्न होता है, हर समस्या मे से समाधान निकाल लेता है और प्रसन्नता का अनुभव करता है। तीसरा कोण है—जो पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान करता है, जहा परम पुरुषार्थ जाग जाता है, परम प्रज्वलन और परमज्योति प्रस्फुटित हो जाती है। यह हमारा तीसरा कोण है। एक कहानी के द्वारा इस बात को स्पष्ट करना चाहता हू—

तीन भाई थे। मा ने एक बेटे से कहा—जाओ, बाजार से तेल ले आओ। शीशी लेकर गया, तेल भरा, घर की ओर रवाना हुआ। अकस्मात ऐसा हुआ कि शीशी हाथ से गिरी, काच की थी, फूट गई। सारा तेल बिखर गया। अब क्या होगा? मा उलाहना देगी। रोता हुआ घर पहुचा और रुआसे स्वर मे मा से बोला—'शीशी गिर गई, तेल भी गया और पैसे भी गए।' वह रोने लग गया। मा ने दूसरे लडके से कहा—तुम जाओ तेल जरूरी है, तेल ले आओ। वह गया, तेल भरा। आने लगा। कोई आकस्मिक घटनाए ऐसी होती है कि जिनकी व्याख्या करना कठिन होता है। ऐसी ही कोई आकस्मिक घटना घटी कि उसके हाथ से भी शीशी गिर गई। पर इतना हुआ कि शीशी फूटी नही, तेल बिखर गया। पूरा नही बिखरा, कुछ बिखरा। शीशी उठाई। उसने बड़ी सतोष की सास ली दौडा-दौड़ा आया और मा से बोला—देखो मा! कैसी घटना घटी? कितनी खुशी की बात है कि शीशी गिरी किन्तु फूटी नही। तेल बिखरा पर पूरा नही बिखरा। आधा बच गया। वह प्रसन्नता से उछलने लगा। बडी प्रसन्नता का अनुभव किया। मा ने कहा—काम पूरा नही हुआ। तेल और चाहिए इतने से काम नही होगा। अब मा ने तीसरे लडके से कहा—अब तुम जाओ। ऐसा मत करना जैसा इन्होने किया है। तेल लाना है। उसने भी तेल भरा, आने लगा और उसके साथ भी वही बीती। शीशी गिर गई फूटी नही, पूरा का पूरा तेल खाली हो गया। ऐसी औधी पडी कि तेल गिर गया। उसने सोचा बडी विचित्र बात है। मा ने तेल लाने के लिए कहा था, पर यह तो बिखर गया। उसने सकल्प किया—जब तक शीशी पूरी नही भर लूगा तब तक घर नही जाऊगा। वही से गया बाजार। श्रम का काम खोजा। श्रम किया। साझ होते-होते पैसे कमा लिये। बाजार गया। तेल खरीदा। पूरी शीशी भरी और मा के पास पहुचा। बोला—यह लो तेल। इतना समय? बोला—इतना समय ज्योति को प्रज्वलित करने मे लगा। मैंने ज्योति जलाई है, उसमे इतना समय लगा है।

हमारी चेतना के भी तीन कोण होते हैं। एक रोने वाली चेतना, एक हसने वाली चेतना, प्रसन्नता का अनुभव करने वाली चेतना और एक

पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान करने वाली चेतना। जो व्यक्ति चेतना की गहराई मे नहीं जाता, ध्यान का अनुभव नही करता वह व्यक्ति रोने की स्थिति मे रहता है। थोडी सी समस्या पैदा होती है —अब क्या होगा? बात तो छोटी-सी होती है। राई जितनी समस्या होती है और उसे पहाड बनाकर सारे दिन और रात दु ख भोगने लग जाता है। नीद हराम, भूख हराम। ऐसा लगता है, मानो सब कुछ खो गया है। छोटी बात को वडी वना लेता है। दुनिया मे वहुत सारी घटनाए बडी नही होती। हम अपनी चेतना की दुर्वलता के द्वारा छोटी बात को वहुत वडी बना लेते है और वहुत तूल दे देते है। तूल ही दुनिया मे ज्यादा चलता है। वास्तव मे देखा जाए तो घटना वडी होती ही नही है। इन छोटी-छोटी वातो को लेकर परस्पर लडाइया, झगडे, कलह, सघर्ष की ज्वालाए, चिनगारिया और चारो तरफ स्फुलिंग उछलते है। कोई वडी वात नही होती, किन्तु ये सब चेतना की दुर्वलता के कारण होते है और ध्यान की अवस्था मे गए बिना, कषायो और आवेगो को शात किए विना दुर्वलता कभी समाप्त नही होती। यह वह चेतना है जो हर समस्या को पहाड वना देता है और रोने की स्थिति पैदा कर देती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदमी दु ख मे से सुख निकाल देता है और सुख की स्थिति से भी दु ख निकाल देता है। आदमी सुख मे दु ख खोज लेता है। आशा मे निराशा खोज लेता है और उत्साह मे से अनुत्साह खोज लेता है। यदि हम ध्यान से सर्वेक्षण करे तो हमे पता चलेगा कि दु ख मे से सुख खोजने वाले लोग विरले है और सुख मे से दु ख खोजने वाले लोग असीम हैं, असख्य हैं। हर घटना मे से दु ख खोज लेते है। जैसे मक्खी अच्छी-अच्छी चीज को छोडकर मल को खोज लेती है, वैसे ही लोग ऐसी कमजोरी को पकड लेते है। अगुली सीधी कमजोरी पर जाती है, दोष पर जाती है और सारा ध्यान उसी मे लग जाता है। हर जगह कृष्ण पक्ष को खोजने मे लग जाते है। शुक्ल पक्ष कभी सामने नही आता, अच्छाई की ओर ध्यान नही जाता। ध्यान सीधा वुराई की ओर जाता है। यह एक प्रकार की चेतना है, रोने वाली चेतना है।

दूसरी चेतना प्रमोद की भावना वाली है, जिसमे प्रमोद है, हर्ष है। दूसरे की विशेषता देखी तो प्रमोद की भावना जागी, हर्ष की भावना जागी। कभी कोई हीनता का अनुभव नही हुआ और अपने पुरुषार्थ की ओर ही ध्यान गया। यह हसने वाली चेतना है। समस्या मे से समाधान खोजने वाली चेतना या दु ख मे से सुख खोजने वाली चेतना—यह चेतना का दूसरा कोण है। ऐसे लोग भी वहुत मिलते है जो इस चेतना का विकास कर लेते है और निरन्तर सुख मे रहते हैं, दु ख का अनुभव नही करते।

मनुष्य के लिए, पहली प्रकार की चेतना वाले आदमी के लिए यह ससार-समुद्र जहर से भरा हुआ है और दूसरी प्रकार की चेतना वाले मनुष्य के लिए यह संसार-समुद्र अमृत से भरा हुआ है। अमृत ही अमृत है उसके लिए।

तीसरे प्रकार की चेतना पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान करने वाली चेतना है। वह अपूर्ण से पूर्ण की दिशा मे प्रस्थान करती है। कही भी अपूर्णता है—परिश्रम करूंगा, पुरुषार्थ करूगा, उसे भरूगा। खड्डे भी भरूंगा, खाली को भरूगा और पूरा करूगा। इस दिशा मे प्रयास चलता है। यह हमारी सृजनात्मक चेतना होती है। यह हमारा रचनात्मक दृष्टिकोण होता है। इस सृजनात्मक चेतना के द्वारा ही मनुष्य-जाति का विकास हुआ है, समाज का रथ आगे बढ़ा है। चाहे साहित्यिक क्षेत्र में, साधना या सस्कृति के क्षेत्र मे और चाहे किसी भी क्षेत्र मे—जो-जो सृजनात्मक चेतना प्रस्फुटित हुई है वह इसी तीसरी चेतना के माध्यम से हुई है।

ध्यान का अभ्यास इस चेतना के जागरण का अभ्यास है। चेतना को चेतना के द्वारा जगाया जा सकता है। चेतना के अनुभव द्वारा चेतना के जागरण की यही प्रक्रिया रही है। धातुवाद की एक पूरी प्रक्रिया है। प्राचीन भारत मे भी और आजकल जो विशेष अन्तरिक्षयान बनाए जाते है उनमे धातु-शोधन की बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। धातु का शोधन शुद्ध धातु के द्वारा ही किया जा सकता है और कोई उपाय नही। एक शुद्ध धातु का डंडा बना दिया, उसमे से सारे विजातीय कण निकाल दिए। उस डडे को घुमाते चलो और जो अशुद्ध धातु है वह अपने आप शुद्ध होती जाएगी, उसके विजातीय कण निकलते चले जाएगे। जब तक विजातीय तत्त्व है, धातु शुद्ध नही होती। शुद्ध धातु के द्वारा धातु के शोधन की प्रक्रिया की जाए। हमारी चेतना की भी यह प्रक्रिया है। अशुद्ध चेतना के अनुभव के द्वारा कभी भी चेतना का शोधन नही हो सकता। जब तक चेतना मे राग-द्वेष की तरगे भरी पडी है, जब तक राग-द्वेष की ऊर्मिया जाग रही हैं तब तक चेतना का जागरण नही हो सकता और चेतना शुद्ध नही बन सकती। ध्यान एक वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विजातीय तत्त्वो का शोधन होता है। राग-द्वेष, कषाय, वासना—ये सारे विजातीय कण चेतना मे मिले हुए है। जैसे ही ध्यान का, राग-द्वेष-मुक्त प्रेक्षा का प्रयोग होता है, चेतना से विजातीय तत्त्व निकलने लग जाते हैं। प्रेक्षा का मतलब है—देखे, अनुभव करे। न राग, न द्वेष, न प्रियता का सवेदन, न अप्रियता का सवेदन। राग-द्वेष-मुक्त चेतना के द्वारा अपनी चेतना का अनुभव करें, जिससे चेतना का शोधन होगा और ठीक वह धातुवाद की प्रक्रिया होगी। यह जीवन की प्रगति का, जीवन के विज्ञान का एक महान् अनुष्ठान है। यह वह अनुष्ठान है कि जिसके द्वारा

व्यवहार का परिष्कार होता है, आचार का परिष्कार होता है और स्वभाव का परिष्कार होता है। इन तीनों का परिष्कार होने का अर्थ है--व्यक्ति का परिष्कार, समाज का परिष्कार। यह एक स्वप्न है और इतना मीठा स्वप्न इतना सुनहला स्वप्न कि इस स्वप्न को साकार किया जा सकता है। दुनिया मे कोई सपना अधूरा नही होता यदि हमारा पुरुषार्थ बराबर चलता रहे। कोई भी कल्पना और सपना साकार हो सकता है, यदि पुरुषार्थ बराबर चलता रहे। अपेक्षा है सपना देखने की और अपेक्षा है समुचित पुरुषार्थ की।

मैं आत्मानुशासन चाहता हूं

समाज मे जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी संयम, नियम, नियत्रण या अनुशासन के साथ जीता है। स्वतत्रता की बात बहुत अच्छी है किन्तु हमारी बहु प्रभावी दुनिया में, नाना प्रकार के सक्रमणो और प्रभावों से गुजरने वाली दुनिया में स्वतत्रता सापेक्ष ही हो सकती है। निरपेक्ष स्वतत्रता की बात कभी हमे प्राप्त नही होती।

एक सस्कृत कवि ने लिखा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्री स्वतत्र नही होती। कुमारी होती है तब पिता उसकी रक्षा करता है, युवती होती है तब पति रक्षा करता है और वृद्ध होती है तब पुत्र रक्षा करने लग जाता है।

स्त्री के विषय में कही गई बात सभी पर लागू होती है। केवल स्त्री ही नही, पुरुष भी स्वतत्र नही होता। प्राणी जगत् का कोई भी प्राणी स्वतत्र नही होता, इतने प्रभाव है हमारी दुनिया में। वातावरण का प्रभाव, परिस्थिति का प्रभाव, सौरमडल का प्रभाव, दूसरे-दूसरे प्राणियो का प्रभाव, वाणी का प्रभाव। इतने प्रभावो की दुनिया में हम जीते हैं, वहां निरपेक्ष स्वतत्रता की बात सोची ही नहीं जा सकती। अनुशासन और नियन्त्रण बराबर चलते हैं। एक अन्तर होता है अनुशासन और नियन्त्रण का। कोई नियन्त्रण बाहरी प्रभाव से आता है और कोई नियत्रण भीतरी प्रभाव से आता है। बाहर से आने वाले नियन्त्रण नियन्त्रण कहलाते है या परानुशासन कहलाते हैं, आरोपित अनुशासन कहलाते हैं। भीतर से फूटने वाला नियत्रण आत्मानुशासन की प्रक्रिया है। यदि ध्यान के द्वारा, कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मानुशासन का विकास न हो तो ध्यान और कायोत्सर्ग भी एक नशे की गोली बन जाएगा। गोली ली, नशा आ गया। आराम का अनुभव हुआ। नशा उतरा फिर वैसा का वैसा। यह यदि मादकता की बात हो और एक सामयिक उपचार हो तो इसे बहुत मूल्य नही दिया जा सकता और न ही दिया जाना चाहिए।

मैं मानता हूं कि ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सामयिक उपचार नहीं हैं, दीर्घकालीन उपचार है। तीन काल है—अतीत, वर्तमान और भविष्य।

अतीत का हमारे ऊपर वहुत प्रभाव होता है। हम कितनी ही स्वतन्त्रता की वात करे और सोचे, पर अतीत के प्रभाव से कौन मुक्त है ? पुराने जमे हुए सस्कार, वृत्तिया, सज्ञाए पग-पग पर आदमी को विवश करती है, बाध्य करती है। अतीत की साकल से वधा हुआ आदमी दौड रहा है। वडा आश्चर्य है कि साकल से छूटा हुआ आदमी दौड सकता है, पर साकल से वंधा हुआ आदमी दौडे, यह वडी विचित्र वात लगती है। ठीक कहा है एक सस्कृत कवि ने—

> **आशा नाम मनुष्याणा, काचिदाश्चर्यशृंखला।**
> **यया बद्धाः प्राधावन्ति, मुक्ताः तिष्ठंति पंगुवत् ॥**

आशा नाम की एक अजीव साकल है। वडी विचित्र साकल है कि उससे बधे हुए आदमी तो दौडते हैं और उससे छूटे हुए आदमी पगु की तरह बैठे रह जाते है।

अतीत से वधा हुआ आदमी बहुत चक्कर लगाता है। अतीत का हमारे मन पर बहुत प्रभाव हैं। मनोविज्ञान ने मन को तीन भागो मे वाट दिया—अवचेतन मन, अर्द्धचेतन मन और चेतन मन। आदमी चेतन मन के सहारे जो कार्य करता है वे चेतन मन की अपनी घटनाएं नही होती, वे प्रभावी घटनाए होती है। यह प्रभाव वाहर से भी आता है और भीतर से भी आता है। अवचेतन मन मे जमे हुए सस्कार, अवचेतन मन मे जमी हुई प्रतिक्रियाए, अवचेतन मन मे जमे हुए प्रतिशोध के भाव जव-जब उभरते है तव-तव चेतन-मन सक्रिय होता है, वैसा ही अभिनय करने लग जाता है। चेतन मन तो वेचारा अभिनय करने वाला है। किन्तु अभिनय कराने वाले का क्या वदलेगा ? यदि अभिनय का मूलस्रोत न वदले तो अभिनय करने वाले का क्या वदलेगा ? आज किसी ने एक अभिनय किया, कल दूसरा अभिनय करने लग जाएगा, परसो तीसरा अभिनय करने लग जाएगा। आज क्रोध का अभिनय किया, कल अहकार का अभिनय करने लग जाएगा, परसो लालच का अभिनय करने लग जाएगा, कभी माया का अभिनय करने लग जाएगा, कभी भय का, कभी वासना का। ये अभिनय इस रंगमच पर निरतर चलते ही चलेगे। कहा अन्त होगा इनका। जब तक अवचेतन मन मे, हमारे अज्ञात और सूक्ष्म मन मे भरी हुई प्रेरणाएं नही मिट जाती, नही घुल जाती, तव तक इस अभिनय का अन्त नही होगा। यह ध्यान का उपक्रम वर्तमान को मिटाने का उपक्रम नही है। यह अभिनय के मूलस्रोत को मिटाने का उपक्रम है। वगीचे मे लिखा हुआ था वोर्ड पर, फूल तोडना मना है। एक लडका गया और पौधा उखाडने लगा। माली ने कहा—क्या करते हो ? पढ़ा नही तुमने, वोर्ड पर क्या लिखा हुआ है ? उसने कहा—पढ लिया, तभी तो यह कर रहा हू, वहा लिखा है—फूल तोडना मना है। मैं फूल कैसे तोड सकता

था ? कहां लिखा है—पौधे तोडना मना है ? मै तो पौधे ही उखाड रहा हू, फूल कहा तोड रहा हू ?

हम भी जब फूल तोडते जाएगे, पत्तिया तोडते जाएंगे तो कभी भी अन्त नही होगा। फूल को सींचो, पत्तियो को सींचो काम नही बनेगा। फल तोड़ो, पत्तिया तोडो, कभी काम नही बनेगा। सींचना होगा तो जड़ को ही सींचना होगा। ये ऊपर के उपचार, ये तात्कालिक और सामयिक उपचार बहुत उपयोगी नही हो सकते। ध्यान का विकास इसलिए हुआ था कि आदमी सामयिक उपचार कब तक करेगा। आखिर कब अन्त होगा इस शृखला का। कोई अन्त नहीं होगा। एक बात सुनी और अच्छी लगी। मन पर प्रभाव भी हुआ, पर कल वैसे के वैसे। कल की बात तो बहुत लम्बी बात हो जाती है। दो घंटा के बाद वैसे के वैसे, क्योंकि वह सामयिक उपचार था, एक शाब्दिक उपचार था। उसे नशे की गोली भी कहा जा सकता है। किंतु ध्यान भीतर तक पहुचाने वाली प्रक्रिया है। वह अवचेतन मन को झंकृत करने वाली और उसका शोधन करने वाली प्रक्रिया है। उस पर जो मैल जमा हुआ है, उस पर जो दोष जमे हुए है, वहां सस्कार की परते गहरी जमी हुई है, उनको उखाड़ना, उखाडना और इतना उखाड़ देना कि पूरी धुलाई कर देना। यह ब्रेनवाशिंग की प्रक्रिया भी नही है। वह भी ऊपर की प्रक्रिया है। मस्तिष्क की धुलाई भी ऊपर की बात है। हम तो पूरे ग्रंथि-तंत्र की धुलाई की बात कर रहे है, जहां से सारे व्यवहार और आचार की प्रेरणाए मनुष्य को उपलब्ध हो रही हैं। ध्यान को न ऊपर की घटना समझें, न बाहर को छूने वाली घटना समझे और न सतही उपक्रम समझे। यह बहुत गहरे को छूने वाला उपक्रम है और इसीलिए है कि ध्यान करने वाले व्यक्ति मे कभी-कभी क्रोध भयंकर रूप से जाग जाता है, भयंकर वासना जाग जाती है, भयंकर विकार जाग जाते हैं। वह घबरा जाता है कि चला था ध्यान करने और लेने के देना पडा। आप मत घबराइये, इतने मात्र से नही जागेगी, थोड़े स्पर्श से नही जागेगी। यह उन लोगो मे जागती है जो बहुत गहरे मे चले जाते हैं। बहुत गहरे मे ध्यान की अवस्था मे उतरते हैं और जब भीतर की धुलाई शुरु होती है तो भला इतने दिन की जमी हुई वासनाए भी सीधी हार कैसे मान लेंगी ! वे भी तो अपना प्रतिरोध करेंगी, फुफकारेंगी और इतनी भयानक फुफकार करती हैं कि आदमी घबरा जाता है। उसी अवस्था मे गुरु के मार्ग-दर्शन की जरूरत होती है कि यह घबराने की बात नही, यह शुभ लक्षण है, शुभ संकेत है इस बात का कि भीतर की पूरी सफाई हो रही है। इस सचाई को हम न भूले कि एक कूडे-करकट का ढेर है। सफाई करनी है तो जैसे-जैसे हम सफाई करेगे नीचे से दुर्गन्ध ही आएगी। बदबू आएगी। यह कभी नही होता कि हम पूरी सफाई करे और बदबू न आए। जो जमा

हुआ है वह तो निकलेगा ही। उसका शोधन नही हुआ तो विकार भीतर का भीतर रहकर अपनी प्रतिक्रिया करेगा और आदमी को सदा बीमार बनाए रखेगा। स्वास्थ्य का लक्षण है—बीमारी की जड को उखाड देना। उखाड़ते समय बहुत कठिनाइयों का सामना करना पडता है। यह ध्यान केवल बाहर से बदलने वाली बात नही है। यह अन्त स्पर्श होता है। भीतर से बदलने की प्रक्रिया शुरु होती है। इसलिए इसे न तो मादक-वस्तु कहा जा सकता है, न सामयिक उपचार कहा जा सकता है। यह दीर्घकालिक और जड को छूने वाला उपचार है। जब सस्कार समाप्त होते है तो फिर हमारे अभिनय भी कम होने लग जाते है। अभिनय तो सारा सस्कार के आधार पर चलता है। जब मूल सस्कार ही नही है तो आदमी नाना प्रकार के अभिनय कैसे करेगा ?

प्रश्न होता है—ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन मे एक सहज ही विकल्प उठता है कि हम ध्यान के अधिकारी कहा हैं ? बर्तन तो गंदा है; अच्छा भोजन उसमे उपयोगी कैसे बनेगा ? कुछ डाल दिया जाएगा तो वह भोजन भी गदा हो जाएगा। कैसे हो ? तर्क तो ठीक लगता है। बात ठीक लगती है कि गदे बर्तन मे डाला हुआ भोजन भी गंदा हो जाएगा। यदि इस गदगी से इस तर्क के सहारे डरते रहे तो काम बनेगा ही नही।

ध्यान ही एक ऐसी शक्ति है जो गदगी को अच्छाई मे बदल सकती है। जिसमे यह शक्ति न हो कि वह गदगी को अच्छाई मे बदल सके, उसके लिये तो तर्क ठीक है। भोजन मे यह ताकत नही है कि भीतर पड़ी हुई गदगी को वह अच्छाई मे बदल सके, स्वयं अच्छा रह सके किन्तु ध्यान में यह ताकत है कि स्वय पवित्र है और आस-पास के वातावरण को भी पवित्रता मे बदल देता है। गदगी छूट जाती है। ध्यान कही भी जाये, गंदे से गदे हाथ मे भी जाये तो हाथ पवित्र बन जायेगे और पवित्र बनाने का साधन ही क्या है ? पानी कभी नही सोचता कि मैं गदे हाथ मे क्यों जाऊ ? गदे हाथ मे जाऊंगा तो गदा बन जाऊंगा। पानी यह बात सोचे तो गंदगी को मिटाने का उपाय ही समाप्त हो जायेगा। हमारे पास कोई उपाय नही है गंदगी मिटाने का। जहा गंदगी है, पानी जाता है और गदगी को साफ कर देता है। उसके अतिरिक्त सफाई का हमारे पास साधन ही क्या है ? पानी को यह भय नहीं होता कि मैं जाऊगा और गदगी साथ होगी या नही ? ध्यान वह निर्मल जलधारा है जो जहा प्रवाहित होती है वहा सारी गंदगी समाप्त होती चली जाती है। निर्मलता आती है, चित्त निर्मल, शरीर निर्मल, वाणी निर्मल, श्वास निर्मल, सब कुछ निर्मल होते चले जाते हैं। हम इस बात से भयभीत न हो। ध्यान की भूमिका मे कोई गदा नही है। उसके लिए सब पवित्र होते हैं। हमारी एक निष्ठा होनी चाहिए—गंदगी को

मिटाने की क्षमता ध्यान मे है। गदगी को मिटाया जा सकता है और अभ्यास के द्वारा मिटाया जा सकता है। यह त्रिआयामी और त्रिसूत्री हमारी आस्था होनी चाहिए :—

१. क्षमता है।

२. समाप्त किया जा सकता है या विकास किया जा सकता है।

३. समाप्ति और विकास अभ्यास के द्वारा किये जा सकते है।

ये तीन सूत्र है। इन पर आस्था जमे तो आत्मानुशासन भी दुर्लभ नही है। आत्मानुशासन तब प्रकट होगा जब भीतर मे जमे हुए सस्कार उखडेगे। उन सस्कारो को उखाड़ने की हमारी क्षमता है। आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर विद्यमान है। वह किया जा सकता है। वह असभव या अशक्य अनुष्ठान नही है और उसे अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। अभ्यास के लिए हमे मार्ग खोजना होगा। उसके सूत्र उपलब्ध करने होगे। उसके सूत्र है—सयम और तपस्या। एक आरोपित नियत्रण होता है, जो बन्धन और वध के द्वारा किया जाता है। दण्ड का नियन्त्रण, दण्ड का अनुशासन। उसके भी दो सूत्र हैं—बन्धन और वध। या तो बाधा जाएगा, पीटा जाएगा या मारा जाएगा। इसके सिवाय उसके पास कोई शक्ति नही है। दण्ड के पास दो शक्तियां है। किसी आदमी को बाध दो, पीटो, मार डालो। जब तक वह बन्धन और वध की बात रहती है तब तक आत्मानुशासन का विकास नही हो सकता। जिस व्यक्ति मे आत्मानुशासन का विकास हो जाता है वह बधन और वध—दोनो भयो से मुक्त होकर सर्वतो अभय हो जाता है।

सम्राट् सिकन्दर ने एक दिगम्बर मुनि से कहा—तुम मेरे राज्य मे चलो। उसने कहा—नही चलूगा। सिकन्दर देखता रह गया। सिकन्दर की बात को टालने की क्षमता बडे-बडे राजा-महाराजाओ मे नही है। सिकन्दर का सकेत ही सबको प्रकम्पित कर देता है, उस स्थिति मे एक अकिंचन साधु कह रहा है कि मै नही जाऊगा। बडा अजीब सा लगा, देखता रह गया। बोला—साधु तुम नही जानते मैं कौन हू। सम्राट् सिकन्दर हूं। तुम्हे नही पता कि मेरे आदेश के अतिक्रमण का क्या परिणाम होता है। जानते हो? साधु ने कहा—'जानता हूं, फिर भी बता दो क्या परिणाम होता है।' सिकन्दर ने कहा—यह है तलवार। परिणाम होगा, तुम मारे जाओगे। साधु ने कहा—किसको डराते हो? यह मौत का भय तो कभी समाप्त हो गया। मौत में मुझे मारने की क्षमता नही है—

'मौत से मरता नहीं मै,
मौत मुझसे मर चुकी है।'

किसको डराते हो तुम ? मौत तो बेचारी मुझसे डरती है। तुम मुझे मौत से डराते हो ? क्या मौत से मुझे डराना चाहते हो ? मौत तो मुझसे डर चुकी है। मुझे क्या मारना चाहोगे ? साधु की बात सुनी। सिकन्दर के हाथ से तलवार छूट गई। बोला—मेरे पास जो अन्तिम साधन था मृत्यु का, उसे तो वह स्वीकार नही कर रहा है, कोई डर ही नही रहा है। भला नही डरने वाले को कैसे डराया जाये ? दुनिया वडी अजीव है कि डरने वाले को ही डराते हैं। जो नही डरता उसे डराने की ताकत किसी सत्ता मे नहीं है, किसी शक्ति मे नही है। दुनिया मे ऐसी कोई शक्ति नही जो अभय को डरा सके। सब डरने वाले को डराते हैं। जो डरते हैं उन्हे पुलिस भी डराती है। दूसरा आदमी भी डराता है, और क्या, चूहा भी डरा देता है। वह भी डरने वाले को वहुत डराता है। थोडा सा खटका होता है तो नीद हराम हो जाती है, वडी अजीव स्थिति होती है। पर सब डराते है डरने वाले को। जो अभय वन गया, भयमुक्त वन गया, उसे डराने की किसी मे भी ताकत नही होती। सिकन्दर परेशान हो गया और बोला—अच्छा महाराज ! अभिवादन, अव जा रहा हू।

जिस व्यक्ति को बन्धन और वध का भय नही होता वह कभी भी वाहरी नियत्रण से नियत्रित नही होता। लोग कहते हैं कि नियत्रण पर नियत्रण आ रहे हैं। कानून पर कानून और इतने कानून की कानूनो का अम्वार लग गया। आदमी को पता ही नही लगता कि यह कानून है। अतिक्रमण हो जाता है तो न्यायालय मे उपस्थित होना पडता है। वह कहता है कि मुझे इस वात का पता ही नही था। न्यायालय यह नही कहेगा कि तुम्हे पता था कि नही था। कानून वनाने वाले वनाते चले जाते है और पकडने वाले पकडते चले जाते है। यह क्यो हो रहा है ऐसा ? डर के कारण हो रहा है। भय के कारण हो रहा है। वुराई करता है, मन मे डरता है बुराई तो कर ली पर कही पकड़ा न जाऊ। यह भय ही तो पकडा रहा है उसको। जगल मे जब शेर की दहाड होती है, बेचारे हिरण व अन्य पशु भयभीत हो जाते है, स्तव्ध हो जाते है, चलने की शक्ति कम हो जाती है। अगर वे दौडते जाए तो सिंह कैसे पकडेगा उनको ? पर इतने भयभीत हो जाते है कि सिंह को दौडने की जरूरत नही अपने आप वे पशु उसके मुह मे आ जाते हैं। समूचे समाज मे व्याप्त भय ही इस नियत्रण को जटिल से जटिल बनाता जा रहा हे। इसका एक समाधान है। वह है—आत्मानुशासन का विकास। हमारे भीतर मे अनुशासन जागे। अनुशासन जागने का अर्थ है कि वहाँ वध नही है, बन्धन नही है। वहा दो प्रेरणाएं काम कर रही है। एक सयम की प्रेरणा और दूसरी तपस्या की प्रेरणा। ये दो प्रेरणाए प्रेरित करती हैं और आत्मानुशासन प्रगट हो जाता है। शरीर का अनुशासन, श्वास का

अनुशासन, प्राण का अनुशासन, वाणी का अनुशासन और मन का अनुशासन —ये पाच अनुशासन इकट्ठे होते है तो फिर एक बनता है—आत्मानुशासन। आत्मानुशासन के ये पांच स्तंभ हैं, पाच आधार है, इन पाच अनुशासनों को उपलब्ध हुए विना कोई भी व्यक्ति आत्मानुशासन को उपलब्ध नही हो सकता।

आत्मानुशासी व्यक्ति के लिए, आत्मानुशासन चाहने वाले व्यक्ति के लिए सबसे पहले शरीर को अनुशासित करना जरूरी होता है। वह होता है—सयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा। उसे काय-सिद्धि करनी होती है, काया को साधना होता हैं। हाथ का सयम, पैर का सयम—ये दो बड़े सयम हैं शरीर के। पैर उठता है उसी दिशा मे जिस दिशा मे हम जाना चाहते हैं। विपरीत दिशा मे एक चरण भी आगे नही बढ़ेगा। हाथ उठेगा उसी दिशा मे जिस दिशा मे हाथ को आगे बढाना है। गलत दिशा मे हाथ आगे नही बढ़ेगा।

हाथ का सयम, पैर का सयम, खड़े रहने का अभ्यास, बैठने का अभ्यास। बड़ा कठिन है खडा रहना, बड़ा कठिन है बैठना। बैठने का अभ्यास क्या सरल है? बड़ा कठिन है। ध्यान करते समय एक घटा, पौन घण्टा एक आसन मे बैठना होता है। किसी का पैर सो जाता है, किसी का हाथ सो जाता है, किसी का शरीर सो जाता है। बडी कठिनाई का अनुभव होता है। और जब बदलने लगते हैं तो कभी एक पैर बदलो, कभी दूसरा और बदलते बदलते आस-पास के भाव बदलने लग जाते है। बड़ा कठिन होता है शरीर का अनुशासन। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घटे तक एकासन मे बैठ सकता है, तीन दिन और तीन महीने और तीन वर्ष बैठ सकता है। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घंटे खड़ा रह सकता है, तीन दिन, तीन महीने और तीन वर्ष तक खड़ा रह सकता है।

कर्नाटक मे बाहुवलि की प्रतिमा है। वह विश्व मे सबसे बड़ी प्रतिमा है। सतावन फुट की वह पहाड मे उत्कीर्ण की गई है, कुरेदी गई है। विलक्षण प्रतिमा है। हम लोगो ने आखो से देखा है। उसका सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक समारोह मनाया गया। बाहुवलि खडे है—कायोत्सर्ग की मुद्रा मे। कब से खडे हैं? प्रतिमा के रूप मे तो एक हजार वर्ष से खड़े है किन्तु साधना काल मे भी एक वर्ष तक खडे रहे। मुनि बन गए और कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े हो गए। खड़े रहे, खड़े रहे। दिन वीते, महीने वीते, पूरा वर्ष वीत गया। पूरे वर्ष तक अविचल मुद्रा मे खड़े रहे। कितना कठिन है यह शरीर का अनुशासन। व्यक्ति काप उठता है। एक घण्टा भी यदि खड़ा रहना हो तो बैठते समय शिकायत होती है कि पैर सो गया और खडे रहते शिकायत रहेगी कि पैर थम्भा बन गया। सारा रक्त नीचे उत्तर गया और

पैर इतना स्तब्ध रह गया कि पैर मे चलने की क्षमता ही नही रही। किन्तु मनुष्य के भीतर कितनी क्षमता है उसका अनुमान नही किया जा सकता। मानवीय क्षमताओ के बारे मे हमारी कल्पना ही नही होती। इतनी अज्ञात क्षमताए हमारे मस्तिष्क मे भरी पडी हैं कि मस्तिष्क का नब्बे प्रतिशत भाग तो काम ही नही आ रहा है। यह क्षमता का भडार पडा का पडा रह जाता है और शेष बचे दस प्रतिशत को काम लेने वाला कौन है ? सामान्य आदमी तो दो-चार या पाच प्रतिशत को ही काम लेता है। सात प्रतिशत को काम मे लेने वाला एक अच्छा आदमी, भाग्यशाली आदमी बन जाता है और दस प्रतिशत को काम मे लेने वाला तो महान् आदमी, बडा आदमी बन जाता है। इस प्रकार नब्बे प्रतिशत शक्तिया तो सोई की सोई पडी हैं। उन शक्तियों को जगा सके, उन शक्तियो को प्रकट कर सकें, उस महास्रोत को खोल सके तब कोई काम बनता है और तब यह अनुशासन प्रकट होता है। उस अनुशासन को, उन शक्तियो को जगाने की प्रक्रिया ध्यान के सिवाय आज तक कोई नही खोजी गई। उस महान् अज्ञात स्रोत को उपलब्ध करने का उस अनन्तकाल से बन्द दरवाजे को खोलने के लिए कोई चाबी बन सकता है तो वह ध्यान बन सकता है।

शरीर का अनुशासन बहुत कठिन होता है तो श्वास का अनुशासन और भी कठिन है। मै आपसे कहू कि इस कमरे मे बैठने वाले व्यक्ति पाच मिनट श्वास नही लेगे। कुम्भक करना होगा। पाच मिनट नाक को बिलकुल बन्द रखेगे। मुझे लगता है कि कमरे मे कोई मिलेगा ही नही। सब अपने-अपने आसन लेकर विदा हो जायेगे कि जहा ऐसी असंभव बात कही जाती है वहा हम बैठकर ही क्या करेगे ?

कोई शास्त्रीयसगीत का कार्यक्रम था। लोगो को निमन्त्रित किया गया था। हाल खचाखच भर गया। सगीत शुरू हुआ। कोई सिनेमा तो था नही। जब आलाप शुरू हुआ तो आधा-पौन घटा तो आ आ ... आ करने मे ही लग गया। लोगो ने सोचा कि अरे, यह क्या हो रहा है, सब उठकर चलते बने। सभी चले गए। एक आदमी बैठा रहा। आधा-पौन घटा तो सगीतज्ञ की आख ही नही खुली। जब आख खुली तो देखा कि हाल तो खाली है, केवल एक आदमी बैठा है। उसने कहा—चलो, कोई बात नही। शास्त्रीयसगीत बड़ा दुरूह होता है। लोग चले गए, कोई बात नही, लेकिन मुझे सतोष है, कम से कम एक अच्छा श्रोता तो मुझे मिला। वह बोला—'बाबूजी ! मै सगीत-वगीत कुछ नही जानता। यह जो दरी बिछी हुई है उसे ले जाने के लिए बैठा हू।' मुझे लगता है कि दरी ले जाने वाला बैठा रहा, पर मैं कह दू कि पाच मिनट श्वास नही लेना है तो दरी वाला भी नही रहेगा। उसके लिए भी मुसीबत है, वह भी चलता बनेगा। इतना कठिन

होता है श्वास का सयम ! जो लोग श्वास शुरू करते हैं वे श्वास को ठीक से लेना सीखते है । सम्यक् श्वास होता है—भलीभांति श्वास को लेना, भलीभाति छोडना और धीमे-धीमे रोकने का, संयम का अभ्यास करना । श्वास का सयम होता है, श्वास का अनुशासन होता है ।

तीसरा है—प्राण का अनुशासन । यह उससे भी कठिन है, वडा कठिन है । श्वास का पता तो चलता है कि आ रहा है । यह जीवन का लक्षण है । श्वास चलता है तो आदमी जिन्दा है, श्वास नही आएगा तो आदमी कैसे जीएगा ? पता चलता है किन्तु प्राण तो और सूक्ष्म बन गया कि उसका पता ही नही चलता । पकड मे भी नही आता । जब प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास मे कहा जाता है कि प्राण के प्रकम्पनो को पकडें, प्राण के प्रवाह का अनुभव करे, प्राण के स्पन्दनो का अनुभव करे तो लोग कहते हैं कहा हो रहा है । यह तो भूल-भूलैया है । कुछ पता ही नही चलता । अरे ! कैसे चलेगा ? स्थूल जगत् मे जी रहे है, सूक्ष्म जगत् की बात कर रहे हैं, कैसे पता चलेगा ? सूक्ष्म को पकड़ने के लिए चित्त को भी सूक्ष्म होना होगा । जव तक चित्त सूक्ष्म नही होगा तो सूक्ष्म पता ही नही चल सकेगा ।

जव प्राण के अनुशासन की क्षमता जाग जाती है तो एक हाथ के तापमान को वढाया जा सकता है, दूसरे हाथ के तापमान को घटाया जा सकता है । दाए भाग के तापमान को वढाया जा सकता है और वाए भाग के तापमान को घटाया जा सकता है । उलटा किया जा सकता है । चाहे जिस अवयव को स्तब्ध किया जा सकता है और चाहे जिस अवयव को अधिक सक्रिय किया जा सकता है । कला का विकास, कौशल का विकास, शिल्पकर्म का विकास—ये सारे प्राण-शक्ति के चमत्कार है । प्राणशक्ति का चमत्कार है कि आख के देखने मात्र से आदमी को वही का वही खडा रखा जा सकता है । आदमी को सुलाया जा सकता है और आदमी को जगाया जा सकता है । ये सम्मोहन की सारी क्रियाएं प्राण-शक्ति के चमत्कार हैं । लोहे की सांकल को तोड़ा जा सकता है । ये सारे प्राण के चमत्कार हैं । प्राण पर अनुशासन होने का मतलव है स्वत:चालित नाडी पर हमारा नियंत्रण हो जाता है ।

चौथा है—वाणी का अनुशासन । वचन पर हमारा अनुशासन । वहुत कठिन होता है वाणी पर अनुशासन करना । मौन का दिन है—मुह से नही वोलेगे । स्मृति आती है—क्या यह वाणी नही है । स्मृति भी वाणी है; भाषा है । भाषा के विना स्मृति कैसे आएगी । कोई भी स्मृति शब्दातीत नही होती । चिन्तन आता है । वह भी वाणी है । चिंतन भाषातीत नही है । शब्दों के विना चिंतन नहीं होता, चिंतन भी एक वाणी है । कल्पना होती है । कल्पना कहा से आई । आकाश से टपक गई क्या ? भाषा के माध्यम से

ही तो होगी। आप बोल नही रहे हैं। मन मे कल्पना का चक्र चल रहा है। बोल ही तो रहे है। यानी वहिर्जल्प नही हो रहा है, अन्तर्जल्प हो रहा है। तर्क-शास्त्र मे दो प्रकार के जल्प होते है—अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प। आपका वहिर्जल्प नही है, किन्तु अन्तर्जल्प तो चल रहा है। आप सपना ले रहे है। क्या हो रहा है ? वोल रहे हैं, सपने मे भी भाषा है। वैज्ञानिक परीक्षण किए गए कि सपने के समय मे भी मनुष्य का स्वरयंत्र सक्रिय होता है। स्वरयत्र निष्क्रिय हो जाए तो फिर स्मृति नही हो सकती, कल्पना नहीं हो सकती, चितन नही हो सकता। यह सारी सक्रियता स्वरयत्र की सक्रियता से ही हो सकती है। इसीलिए आपको निर्देश दिया जाता है कि विशुद्धि-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करे, कठ की प्रेक्षा करें। जैसे-जैसे इसके गूढ रहस्य आपकी समझ मे आते जाएगे तव सही मूल्याकन होगा कि हम क्या कर रहे हैं। अन्यथा तो ऐसे लगता है कि कठ को देखो, इस जीभ को देखो, इनको तो क्या देखना है ? रोज खा रहे है, देख रहे हैं जीभ को। स्थूल बात को पकडते है, समझ मे नही आता। जैसे-जैसे गहरे उतरेगे, रहस्य को पकडेगे तव ज्ञात होगा कि कठ को देखना कितना मूल्यवान् होता है। जिस व्यक्ति ने कठ पर कायोत्सर्ग करना सीख लिया, स्वरयत्र को शिथिल करना सीख लिया, उसने वहुत सारी समस्याए हल कर ली। एक प्रश्न हो सकता है कि साम-यिक समस्याए हल कर ले तो आन्तरिक समस्यओ का समाधान भी मिल जाए, किन्तु समस्या केवल आतरिक ही तो नही है। समस्या केवल आवेगा-त्मक या सवेगात्मक ही तो नही हैं। यथार्थ की समस्याए भी मुह वाए खडी हैं। गरीवी है तो रोटी की चिन्ता, परिवार है तो लडके-लडकियो की पढाई की चिंता, शादी की चिंता, कितना दहेज, कितनी यथार्थ की चिंताए। ध्यान करने से वे समस्याए नही सुलझेगी। आपने दस दिन ध्यान का अच्छा अभ्यास किया, घर पर गए, ऐसा तो कोई जादू नहीं होगा कि लडके-लडकियो की शादी भी मजे मे हो जाएगी, पढाई के खर्चे के विल भी आप चुका देगे। यह तो नही होगा। यथार्थ की समस्याओ का समाधान करना पडेगा, तभी समाधान मिलेगा। वडी समस्या हे। तो फिर ध्यान एक साम-यिक उपचार ही रहा कि यहा दस दिन वैठ रहे, आराम से रहे, कायोत्सर्ग करते रहे। अच्छा लगा और जैसे ही उस भट्टी मे गए वैसे ही आच आने लगी। यह एक स्वाभाविक वात है। अगर कोई आदमी यह सोचे कि ध्यान के द्वारा खेती भी हो जाएगी, रोटी भी मिल जाएगी, गरीवी भी मिट जाएगी, विवाह-शादिया भी हो जाएगी, पढाई का खर्चा भी मिल जाएगा, कपडे भी मिल जाएगे तो ध्यान को ऐसा कल्पवृक्ष मान लिया कि सव कुछ हो जाएगा। धर्म को भी कुछ लोग कहते है कि धर्म करो, सव कुछ जाएगा, मै मानता हू कि इससे वड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता। यह तो

झूठ है। जिसकी जितनी सीमा, उसका उतना ही आकलन होना चाहिए। ध्यान कोई अनन्त और असीम शक्तिशाली नही है। ध्यान की भी अपनी सीमा है। वह अपनी सीमा मे ही काम कर सकता है। आपके मानसिक तनाव को, भीतर से आने वाले तनाव को, आवेगो, सवेगो से आने वाले तनाव को मिटा सकता है। आप यह समझे कि वह रोटी भी उपलब्ध करा देगा तो वहुत झूठी कल्पना होगी। पर एक वात और समझे कि ध्यान रोटी तो नही दे सकता, विवाह शादी का खर्चा तो नही दे सकता, पढाई का विल व होटल का विल चुकाने की बात तो नही कर सकता किन्तु इन यथार्थ की समस्याओ से जूझते समय जो परेशानिया होती है उनसे जरूर आपको बचा लेगा।

दो वाते होती हैं—(१) समस्या का सामना करना (२) समस्या से परेशान होना। ये विलकुल दो वाते हैं। मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान की गरीवी मे और समस्याओ में सवसे वड़ी कठिनाई यह है कि समस्या को सुलझाने के लिए जिस प्रकार की चित्त की प्रेरणा चाहिए वह नही है, परेशान करने की प्रेरणा काम कर रही है। अगर हम इन दो वातो को अलग कर सके, पानी मे आकर पडी हुई गदगी को साफ कर सके, पानी को फिल्टर कर सके, तो पानी विलकुल साफ होगा। हम इस वात को नही समझ पा रहे हैं कि समस्याओ का समाधान खोजने मे, समस्याओ से जूझने मे जिस प्रकार के चित्त की आवश्यकता है वैसा हमारा चित्त नही है। जाते हैं समस्या का समाधान करने के लिए किन्तु परेशान चित्त के कारण एक और समस्या पैदा कर लेते हैं।

वच्चा जिद्द मे है और उसकी जिद्द छुडाने के लिए प्रयत्न कर रहे है। यदि प्रेम से काम होता है तो वात वन जाती है किन्तु मेरी वात नही मान रहा है—आया, आवेश मे दो-चार चाटे जड दिए, सुलझना जहा का तहां रहा, वात और उलझ गई।

पड़ोसी से वातचीत करनी है, शांति के साथ करनी है—समझौते की वात कही, आवेश आया, लाठिया उठ गई। वहुत सारी यथार्थ की समस्याओ को भी हम अपने द्वारा उलझा लेते हैं।

हम ऐसे चित्त का निर्माण करे जिससे समस्याओ का सामना करने मे वह सक्षम हो। वह कभी समस्याओ से परेशान न हो।

इस प्रकार के चित्त के निर्माण के लिए आत्मानुशासन अपेक्षित है। आत्मानुशासन तव घटित होता है जव व्यक्ति मे शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन - इन पाचो पर अनुशासन करने की क्षमता विकसित होती है। इन सव अनुशासनों का घटक है ध्यान।

हम एक आत्मानुशासन को विकसित करने की दिशा मे प्रस्थान करें।

मैं मानसिक संतुलन चाहता हूं

हमारे पास काम करने लिए तीन साधन हैं—शरीर, वचन और मन। इन तीन साधनो से हम जीवन-यात्रा का सचालन कर रहे हैं।

शरीर प्रमुख है। उसके बिना कुछ नही होता। वह पहली बात है। वचन इसलिए प्रमुख होता है कि बिना उसके सामाजिक सपर्क नही जुड़ता। वचन एक माध्यम है सामाजिक सपर्क का। एक आदमी दूसरे आदमी से जुडता है, उसमे सबमे बडा माध्यम वाणी बनती है। जिनके पास वचन नहीं है, वाणी नही है, वे समाज की रचना नही कर सकते। छोटे-मोटे टोले बना सकते हैं, पास मे रह सकते है पर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नही कर सकते। एक बहुत बडा साधन है—हमारा वचन। इन दोनो से भी शक्तिशाली माध्यम है हमारा मन, जिसके द्वारा मनुष्य ने कुछ विशेषता उपलब्ध की है। शरीर सब प्राणियो के होता है। भाषा सबमे नही होती पर पशु जगत् मे भी होती है। किसी भाषा मे दो शब्द मिलते है, किसी भाषा में चार शब्द मिलते हैं और किसी भाषा मे छह शब्द मिलते है। आजकल पशुओ और पक्षियो की भाषा का भी पर्याप्त अध्ययन किया गया है। सपर्क की दृष्टि से शरीर से ज्यादा मूल्य हो जाता है वाणी का और वाणी से ज्यादा मूल्य हो जाता है मन का, क्योकि मन सब प्राणियो मे नही होता। जिनमे भाषा नही है उनमे मन नही होता। जिनमे भाषा है उनमें भी मन पूरा विकसित नही होता।

मनुष्य के पास पूरा विकसित मन है। उनमे बोलने की क्षमता भी है और चिंतन करने की क्षमता भी है। एक आदमी तोता खरीदने गया। दुकान पर जाकर पूछा कि तोता चाहिए। कई पिंजडे दिखलाए। मूल्य पूछा तो बतलाया कि सौ रुपये लगेंगे। बोला—बहुत मूल्य है। दुकानदार बोला—'मूल्य बहुत है पर यह बोलना जानता है।' 'अच्छा', कह कर ग्राहक चला गया। दूसरे दिन आया एक पिंजडा लेकर और बोला कि मुझे तोता बेचना है। दुकानदार ने पूछा—कितना मूल्य है? उसने कहा—'पाच सौ रुपया।' इतना मूल्य? मैं सौ रुपयो मे तोता देता हूं, दुकानदार ने कहा। वह बोला—तुम्हे पता नही है। तुम्हारा तोता तो बोलना जानता है, मेरा तोता बोलना नही जानता, बडा दार्शनिक है, चिंतन करना जानता है, चिंतन मे ही मस्त रहता है।

बोलने वाले तोते के सौ रुपये लगते हैं तो चिंतन करने वाले के पाच

सौ रुपये होने ही चाहिए। वोलने से अगला विकास है चिंतन करना, मनन करना। मूल्य वढ़-चढ़ जाता है।

हमारे पास तीन शक्तिशाली साधन है। कार्य-संचालन के लिए—शारीरिक क्षमता, वाचिक क्षमता और मानसिक क्षमता। यदि हम समस्या की दृष्टि से विचार करें तो भी शरीर एक समस्या है, वचन भी एक समस्या है और सबसे जटिल समस्या है हमारा मन। शरीर इसलिए समस्या है कि वीमारिया सवसे अधिक शरीर मे पैदा होती हैं। बुढापा शरीर पर उतरता हैं। बुढापा एक समस्या है। बीमारी एक समस्या है, दु:ख का सवेदन एक समस्या है। वह शरीर के माध्यम से होता है तो शरीर भी एक समस्या है। वाणी भी समस्या है। जिस वाणी के द्वारा बहुत सारे कार्य सधते हैं, पर कभी-कभी ऐसा होता है कि इसी वाणी के द्वारा बहुत सारी समस्याए झेलनी पडती है। हम इतिहास को देखे, पुरानी घटनाओ को पढ़े और जीवन व्यवहार का अनुभव करे तो पता चलेगा कि वाणी के द्वारा कव, किस प्रकार, कैसी समस्याए जटिल बनी है ?

जव अविवेक होता है वाणी का, तव बडी समस्याए पैदा हो जाती है। एक वचन मुह से निकल जाता है तो महासग्राम जैसी स्थिति वन जाती है। एक समस्या है। इससे जटिल समस्या है—मन। जिसने मन को मना लिया, उसने शरीर को भी मना लिया और वाणी को भी मना लिया। दोनो मना लिए गए। मन स्वस्थ होता है, सतुलित होता है तो शरीर की बीमारियां भी वहुत कम हो जाएगी।

आज का युग 'साइकोसोमेटिक डिजीजेज' का युग है। शारीरिक बीमारिया कम होती है, अधिक मनोकायिक बीमारिया होती हैं। मानसिक बीमारिया ही शरीर पर उतरती है। आदमी दवा लेता चला जाता है। वह सोचता ही नही है और शायद आजकल के डॉक्टर भी कम ध्यान देते है। रोगी को इतनी तेज दवाइयां देते है, इतनी भारी डोज देते हैं, इतनी एण्टी-बायोटिक्स के प्रयोग चलते है कि प्रतिक्रिया पर प्रतिक्रिया होती चली जाती है। एक वार जो दवा के चक्कर मे फंस जाता है वह तो फसता ही जाता है। फिर तो फसते ही चले जाओ आगे से आगे। ऐसी अनवस्था हो जाएगी कि जिसका कही अन्त ही नही आएगा।

जिस व्यक्ति ने मन को साधा है उसके दवाइयां भी कम हो जाती हैं। हमारा अनुभव है कि शिविर मे आने वाले लोग दवाइयों की पेटिया भर-भर कर लाते हैं। किन्तु जव वापस जाते है तो पेटिया वैसी की वैसी उनके साथ सुरक्षित चली जाती हैं। दवाइयो की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो दवाई लेने के लिए साधन सामग्री चाहिए, वह उनको मिलती नहीं, तव दवाई की जरूरत क्या हो सकती है ? जहा मानसिक प्रशिक्षण और

मन को साधने की क्रिया होती है और मन स्वस्थ होता है, वहा वेचारे शरीर को फिर दवाई की जरूरत ही क्या है ? कोई आवश्यकता नही होती। मन के सध जाने पर शारीरिक समस्याए भी कम होती है। मन के सध जाने पर वाचिक समस्याए भी कम होती है। जब मानसिक उत्तेजना होती है तो वचन की जटिलता बढती है, वाणी का दुरुपयोग होती है। जब मन सतुलित हो जाता है तो वाणी की समस्या अपने आप निरस्त हो जाती है। अलग से प्रयत्न करना आवश्यक नही होता। बोलेगा, बहुत सतुलित बोलेगा। असहिष्णुता नही होगी। अधैर्य नही होगा। इतना अधैर्य होता हे आदमी मे कि सामने वाला पूरी बात कहता नही, पहले ही वह उबल पडता है। अरे ! सुनो तो सही कि अगला क्या कहना चाहता है। किसे अवकाश है कि पूरी बात सुने ! पहले ही उबल पडता है, चाहे सामने वाला व्यक्ति अच्छी बात कहना चाहता हो। पर पता ही नही चलता। तो यह सारा मानसिक असतुलन के कारण होता है। यदि हम अपनी वैयक्तिक समस्याओ, सामाजिक समस्याओ, पडोसी की समस्याओ—इन सारी समस्याओ का अध्ययन करे तो पता चलेगा कि इन समस्याओ को बढाने मे हमारा मानसिक असतुलन एक ईधन का काम कर रहा है। ऐसा ईंधन है जो निरन्तर आग को प्रज्वलित रख रहा है। यह ज्योति बुझती नही, शाश्वत ज्योति है। कुछ ज्योतिया तो ऐसी है जो कि जलती है और बुझ जाती है। आज की बिजली का तो भरोसा ही नही कि दिन मे कितनी बार आए और कितनी बार चली जाए। पर यह मानसिक असतुलन की बिजली तो ऐसी है कि कभी जाती ही नही, हमेशा अपना चमत्कार दिखाती रहती है। यह बहुत बडी समस्या है मानसिक असतुलन की। क्यो होती है, इस पर भी कुछ मीमासा करे।

इसका एक कारण है—उत्तेजना। हमारी आवेशात्मक और आवेगात्मक प्रवृत्तियो पर हमारा नियन्त्रण नही है। हर बात मे उत्तेजना आ जाती है। ध्यान का अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम अपने आप पर नियन्त्रण करने की स्थिति मे आ जाते है। ध्यान से सारे आवेग समाप्त हो जायेगे, ऐसा मै नही कहना चाहता। यह तो बहुत आगे की बात हो सकती है। पर यह भी कम बात नही है कि हम जब चाहे तब दरवाजे को बन्द कर सकते हैं और जब चाहे तब उस पर ताला लगा सकते है। वह भी तो बहुत बडी बात है। इसीलिए दरवाजे का, ताले का, कुजी का विकास हुआ कि आदमी सुरक्षित रह सके। यह अपनी सुरक्षा का एक बहुत बडा माध्यम बनता है।

हमारी एक ऐसी चेतना जाग जाए कि आवेश आने की स्थिति मे हम तत्काल दरवाजा बन्द कर दें और शान्त रह सके। यह कम बात नही है, बहुत महत्त्वपूर्ण बात है और केवल मनुष्य ही ऐसा कर सकता है। प नही कर सकता। पशु के सामने उत्तेजना की स्थिति आएगी, वह उ

में चला जाएगा। चाहे भैंस हो, भैंसा हो, सुअर हो, रीछ हो, कोई भी हो, वे ऐसे आवेश मे आएंगे, फुफकारने लग जाएगे और तमतमा उठेंगे। मनुष्य मे यह क्षमता है कि आवेग की स्थिति होने पर भी वह अनाविष्ट रह सकता है और आवेश पर नियन्त्रण कर सकता है। इस चेतना का विकास मनुष्य ने किया इसीलिए वह संतुलन का जीवन जी सकता है।

एक छोटा बच्चा भी उत्तेजना मे आ जाता है। बडा आश्चर्य होता है कि दो-चार वर्ष के बच्चे भी इतना गुस्सा करते हैं कि देखते ही बनता है। एक भाई आया और आकर बोला कि यह छोटा बच्चा है, इसे गुस्सा बहुत आता है। उसकी मां बैठी थी, पिता भी बैठा था। मैंने पूछा उसकी मा से कि गुस्सा तुम्हे ज्यादा आता है या इसके पिता को गुस्सा ज्यादा आता है। और शिकायत भी पिता कर रहा था। मैने कहा कि यह तो आनुवशिकता है, पैतृक सस्कार है। तुम स्वय इतना गुस्सा करते हो और बच्चा इतना गुस्सा करता है तो तुम्हें बुरा क्यो लगना चाहिए ? नही लगना चाहिए। बडा आश्चर्य होता है, पिता गालिया बके, गुस्सा करे, कुछ भी करे, बुरा नही और लडका वैसा करता है तो बुरा लगता है। यह बड़ी अजीव मन:स्थिति है। जब मै स्वयं करता हू और वैसा सामने वाला करता है तो मुझे बुरा क्यो लगना चाहिए। दूसरे के आचरण बुरे लगे तो अपने आचरण भी बुरे लगने चाहिए। पर वे तो कहते है कि हम तो अब बड़े हो गए, यह तो ऐसे ही चलेगा, इसमें अब क्या फरक पडने वाला है ? हर आदमी दूसरे को सुधारने की बात ज्यादा करता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति कभी दूसरे को सुधारने की वात नही करेगा। दूसरे को सुधारने की बात राजनीति की वात है और अपने आपको सुधारने की वात आत्मानुशासन की या ध्यान की वात है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपना प्रयोग करेगा या अपने को अच्छा वनाने का प्रयत्न करेगा। दूसरा कोई चाहेगा तो मार्गदर्शन दे सकेगा कि यह मार्ग है तुम चाहो तो करो, न चाहो तो जैसी तुम्हारी इच्छा। इससे ज्यादा कुछ भी नही।

हम अध्यापको का शिविर ले रहे हैं। पहले पुलिस वालो ने ध्यान का अभ्यास किया, फिर और लोगो ने किया। यह शिविर का सिलसिला बरावर चल रहा है। हम इस वात को सदा मानकर चलते है कि कौन व्यक्ति क्या कर रहा है ? अभ्यास कर रहा है या नही कर रहा है ? रुचि ले रहा है या नही ले रहा है ? जानते है, पता है कि क्या कैसा हो रहा है, फिर भी हमारा कोई आग्रह नही कि ऐसा ही करना होगा। फिर आरोपण हो जाएगा। ध्यान है वहा आरोपण नही चल सकता। मात्र मार्गदर्शन हो सकता है। यह मार्ग है, आप चाहे तो करें, न चाहें तो आपकी स्वतत्रता है। जहा ध्यान की स्वतत्रता मे ही बाधा आए तो फिर वह ध्यान नहीं

वह तो फिर एक दडारोपण हो गया, एक कारावास हो गया। यह कारावास नही, यह एक स्वतत्रता की चेतनाभूमि है, जहा हर व्यक्ति स्वतन्त्रता से काम करे। आपके मन मे प्रश्न हो सकता है— फिर व्यवस्था क्यो ? अनुशासन क्यो ? यह व्यवस्था, अनुशासन तो अनेक आदमी है इसलिए है। इसे आप ध्यान के साथ न जोडे। यह प्रश्न कोई ध्यान का प्रश्न नही है, यह तो समूह का प्रश्न है। यह व्यवस्था और बाहर का नियम, जहा समूह होता है वहा जरूरी होता है। ध्यान मे तो पूरी स्वतन्त्रता है। मैं कितना ही बलपूर्वक कह दू कि आपको ध्यान करना ही पड़ेगा। मान लीजिए, आपने उस आग्रह को नही टाला। आखे बन्द कर ली, बैठ गए। क्या ध्यान हो गया ? ध्यान कहा होगा ? शरीर ध्यान की मुद्रा मे बैठ गया पर ध्यान तो तब होगा कि जब आप करना चाहेगे। नही करना चाहेगे तो फासी की सजा भी किसी को ध्यानी नही बना सकेगी।

जो क्रिया अपनी आत्मा की सर्वथा स्वतत्र और पूर्ण स्वतत्र चेतना कि क्रिया है उसे कभी आरोपित नही किया जा सकता, थोपा नही जा सकता। यह बिलकुल स्वतत्रता का प्रश्न है और इसमे बाहरी अनुशासन काम नही देता। किन्तु आश्चर्य तो वह होता है कि एक व्यक्ति स्वय वैसा आचरण करता चला जाता है, पर पिता को अपने पुत्र का, पति को अपनी पत्नी का वही काम अच्छा नही लगता। इससे बडा क्या आश्चर्य होगा और क्या विडम्बना होगी!

रसोई मे काच की गिलास गिर गई, फूट गई और थोडी देर बाद एक झकार हुआ और वह भी समाप्त हो गया। लड़का बाहर बैठा था, उसने पिता से कहा—काच की गिलास फूटी है, लगता है—मा के हाथ से फूटी है। तो पिता के मन मे एक जिज्ञासा जाग गई। नौकर को भेजा कि पता करो किसके हाथ से फूटी ? क्या हुआ है ? नौकर पता करके आया, बोला—सेठानीजी के हाथ से काच की गिलास गिरी, फूट गई। पिता ने अपने पुत्र से कहा—तुम तो यहा पर बाहर बैठे थे, तुम्हे कैसे पता चला ? क्या कोई अतीन्द्रिय ज्ञान हो गया ? क्या कोई तृतीय नेत्र खुल गया है ? कैसे पता चला कि तुम्हारी मा के हाथ से फूटी है ? उसने कहा—मुझे पता चल गया। पिता ने पूछा—कैसे पता चला ? बेटे ने कहा—यह तो स्वाभाविक ही है कि मा के हाथ से फूटी थी इसीलिए एक मिनट मे ही उसका झकार समाप्त हो गया। मेरी पत्नी के हाथ से फूटती तो यह झकार चलता ही रहता, मा का झकार भी साथ ही चलता।

हमारी बडी विचित्र स्थिति चलती है। एक आदमी स्वय आचरण करता जा रहा है, स्वय व्यवहार करता जा रहा है, वैसा ही व्यवहार अपने से छोटा करता है तो बड़ा अप्रिय लगता है। शराबी पिता अपने पुत्र के लिए

चाहता है कि वह शराबी न हो जाए। एक धूम्रपान करने वाला नही चाहता कि लडका भी धूम्रपान करना सीखे। हमारे पास एक व्यक्ति आया जो बडा सटोरिया था। आकर बोला—मेरे लडके को सट्टा न करने का सकल्प दिला दें। मुझे बडा आश्चर्य हुआ, अरे भाई! तुम तो इतना सट्टा करते हो और तुम यह चाहते हो? वह बोला—हा, मै जानता हू कि सट्टा करने वाला कितना दु.ख भोगता है। मै चाहता हू कि मेरा लडका तो कम से कम इसमे न फसे—यह कैसे होगा? तुम तो करते जाओ और तुम्हारा लडका इसमे न फसे यह कैसे सभव होगा? यह बात समझ में नही आती। अपना आचरण नही बदलता, पर अपने लडके को, अपनी पत्नी को बचाना चाहता है। इसके पीछे एक ही कारण है—आवेश कम नही हो पा रहा है। उत्तेजना कम नही हुई है। एक आवेश वायु का होता है, जिसे आयुर्वेद के ग्रथ मे, चरक और सुश्रुत मे, भूतावेश भी कहा गया है। बहुत सारे आवेश वायु के होते है। वे भूत के आवेश मान लिए जाते है और कभी-कभी प्रेतात्मा का आवेश-प्रवेश हो जाता है। ये दो आवेश तो होते ही है और इनसे भी बडा आवेश होता है—मूर्च्छा का। आदमी मे इतनी घनी मूर्च्छा होती है कि खुली आख होने पर भी देख नही पाता। कान खुले है पर सुन नही पाता, पता ही नही चलता। यह स्थिति ध्यान के द्वारा समाप्त की जा सकती है। मूर्च्छा को ध्यान के द्वारा ही तोड़ा जा सकता है और जब तक मूर्च्छा नही टूटती, यह मानसिक सन्तुलन नही आ सकता। मानसिक असन्तुलन का बडा कारण है - उत्तेजना। दूसरा कारण है—आग्रह। मनुष्य मे आग्रह होता है, बात की पकड होती है। एक बात को पकड लेता है। दु.ख पाता है, फिर भी छोड़ता नही है। सतुलन को खो देता है। अनुभव करता है कि अच्छा नही है फिर भी बात पकड ली सो पकड ली। मै ऐसा कमजोर नही हू कि पकड़ ली और छोड़ दू। छोड़ने वाले वे दूसरे लोग होते है। मैं कोई बनिया नही हू कि मूछ ऊची हो या नीची हो। मै तो पकड का आदमी हू। पकड को कभी नही छोड़ता।

यह आग्रह भी बडा असतुलन पैदा करता है, बडे असमजस मे डाल देता है। आदमी आया और रुपया चुकाना था। सामने लाकर साठ रुपये रख दिए। उसने पूछा कि भाई! मैंने सत्तर रुपये दिए थे, पैंतीस एक बार और पैंतीस एक बार। ये साठ कैसे लाए? उसने कहा—नही, पैंतीस-पैंतीस साठ होते है। उसने कहा—नही, पैंतीस और पैंतीस सत्तर होते है। उसने कहा—तुम हजार बार कहो, पर मै तो नही मानता। मैं तो यही मानूगा कि पैंतीस और पैंतीस साठ होते है और ये साठ रुपये मैने तुम्हारे ला दिए। क्या किया जाए? बडे असमजस की स्थिति बन जाती है।

आग्रह बहुत असतुलन पैदा करता है। आप सूक्ष्मता से ध्यान देंगे तो

पता चलेगा कि पारिवारिक कठिनाइयो मे, जिद्द की प्रकृति सबसे ज्यादा तकलीफ देती है। एक बात पकड ली, बस अब नही छोडेंगे। समूचे परिवार मे एक कलह का वातावरण बन जाता है। शायद आप लोग ज्यादा अनुभव कर सकते है, भुक्तभोगी भी हो सकते है। हमे तो इतना अनुभव नही है। सुनते है, इसके परिणाम से एक घर मे कई दीवारे खिंच जाती है, कई चूल्हे जल जाते है। चूल्हे जल जाए, दीवारे खिंच जाए, कोई बडी बात नही, किन्तु कटुता के कारण बाप और बेटा दस-दस वर्ष तक मिलते नही। बाप दूसरे व्यक्ति के आने पर हस-हस कर बात करेगा, किन्तु लडका सामने आने पर आख ऐसे घुमा लेता है, चेहरा घुमा लेता है और अकस्मात् ही सामने आ जाए तो आखो मे गर्मी उतर जाती है। बडी अजीब स्थिति होती है। इसमे आग्रह का बहुत बडा योग होता है।

मानसिक असतुलन का तीसरा कारण है—पक्षपात। पक्षपात भी कम कारण नही है। अपना सतुलन भी बिगडता है और सामने वाले का सतुलन भी बिगडता है। ये शिकायते भी बहुत आती है कि मै पिता का विनीत था और अभी हू किन्तु पिता ने ऐसा पक्षपात किया कि एक बेटे को तो सारा धन दे दिया और मुझे अगूठा दिखा दिया। बडे भाई के प्रति छोटे भाई का, मा के प्रति लडके का और सौतेली मा हो तो फिर कहना ही क्या! यह पक्षपात का भी बडा प्रश्न है। मालिक का भी अपने कर्मचारी के प्रति इस पक्षपात के कारण मानसिक सतुलन गडबडा जाता है।

असतुलन का चौथा कारण है—असतुलित आहार। असतुलित आहार के कारण भी सतुलन बिगड जाता है। इस विषय पर कम ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु आज की वैज्ञानिक खोजो ने इस बात पर बहुत प्रकाश डाला है। पागलपन जो होता है वह केवन मानसिक उलझनो के कारण नही होता। असंतुलित भोजन के कारण भी आदमी पागल बन जाता है। यह जो पोषण के निर्देशन का विषय है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है और ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति के लिये यह जानना बहुत जरूरी है। दस रोटिया खाएगे, कोरा अन्न ही अन्न खाया, कार्बोहाईड्रेट खाया, श्वेतसार खाया, पेट तो भर जाएगा पर मस्तिष्कीय सतुलन बिगड़ जाएगा। प्रोटीन भी चाहिए, वसा भी चाहिए, लवण भी चाहिए, सब चाहिए। जब भोजन पूरा सतुलित होता है तो मस्तिष्क भी ठीक काम करता है, सतुलन उतना नही बिगडता, किन्तु जिस व्यक्ति को बहुत गुस्सा आता है, वह बहुत चिडचिड़े स्वभाव का हो जाता है, बार-बार लडाई-झगडा करता है, दिन भर परिवार को सताता है तो उसको यह भी सोचना चाहिए कि कोई न कोई आहार का दोष इसके साथ जुडा हुआ है।

भगवान् महावीर की एक यात्रा हुई थी आदिवासी बस्ती मे—

सथाल परगने जिले मे। बतलाया गया है कि वे लोग निरन्तर रूखा भोजन करते थे। चिकनाई नही खाते थे इसलिए उनमे गुस्सा ज्यादा बढ गया और जो तपस्वी होते है, ज्यादा उपवास करते है, रूखा भोजन करते हैं उनमे गुस्से की मात्रा बढ़ जाएगी। प्रसिद्ध है तपस्वियो का गुस्सा। कितने क्रोधी होते थे वे। दुर्वासा के बारे मे प्रसिद्ध बात है। तपस्या के साथ गुस्सा बढेगा। तपस्या के साथ ध्यान चलेगा तो ऊर्जा ध्यान मे खप जाएगी, गुस्सा नही बढेगा। कोरी तपस्या चलेगी तो गुस्सा बढने की सभावना है। रूखे भोजन से गुस्सा बढ जाता है, स्वभाव के चिडचिडे होने मे, लडाई-झगडे की आदत ज्यादा होने मे भोजन का भी बहुत बड़ा हाथ है और इस बात पर हम अभी ध्यान ही नही देते है। हम भोजन को तो ऐसा मानते हैं कि यह पेट क्या है—गड्ढा है। खाली है और भर दो, बस। अरे! किससे भरोगे? यह सोचने की क्या जरूरत है? भूख लगी और गड्ढा भर गया। बस, अब ठीक है। गड्ढा तो भर गया पर वह भरा हुआ गड्ढा क्या करेगा। इसका भी कोई अनुमान हमे होना चाहिए। परिणाम क्या होगा? उधर भी तो हमारा ध्यान जाना चाहिए। उस बात पर ध्यान नही जाता। ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—भोजन का विवेक। आपके सामने प्रश्न होगा कि आज की गरीबी मे संतुलित भोजन की बात सोची जा सकती है? कितना महगा हो गया भोजन? एक सामान्य गरीब आदमी, सामान्य आजीविका वाला आदमी कैसे यह कर सकता है और आज का शिक्षक भी कोई समृद्ध व्यापारी तो नही है। समृद्धि तो नही है। बडी कठिनाईया है—आजीविका के सामने। पाच सौ, सात सौ या हजार रुपये मिलते है तो चटनी हो जाते है, रोटी की बात नही, कोरी चटनी मे चले जाते हैं। इस भयंकर महगाई मे सतुलित भोजन की बात कैसे हो सकती है? प्रश्न है, सचमुच प्रश्न है। पर कोई प्रश्न ऐसा नही होता कि जिसके साथ समाधान जुड़ा हुआ न हो। सतुलित भोजन की भी ऐसी तालिकाए हैं कि जो सामान्य भोजन मे भी पूरी हो सकती हैं। तुलसी अध्यात्म नीडम् का एक यह भी कार्यक्रम है कि सतुलित भोजन के बारे मे प्रशिक्षण देना। शिविरार्थियों को यह समझाना और वहां ध्यान करने के लिए, साधना करने के लिए जो लोग आते हैं, उन्हे इस विषय पर प्रशिक्षित करना कि सामान्य आर्थिक व्यवस्था मे भी भोजन को कैसे सतुलित किया जा सकता है। बहुत अच्छा प्रोटीन दूध से मिलता है। जीरा जो सामान्य भोजन मे काम आने वाली चीज है, उसमे लोहा होता है और भी सामान्य-सामान्य चीजो मे ऐसे तत्त्व है। बात केवल यही है कि उनके विषय मे हमारी जानकारी नही और कभी इस दृष्टि से सोचा नही कि भोजन सतुलित होना चाहिए।

शरीर मे अनेक अग काम कर रहे हैं। तिल्ली, गुर्दा, हार्ट, मस्तिष्क, नाडिया इन सवको अलग-अलग प्रकार के रसायन और तत्त्व चाहिए। अलग-अलग जरूरत है। कुछ लोग इतना नमक खाते है, ऊपर से डालते ही चले जाते हैं। अरे! इतना नमक खाते हो, जीभ को भी अच्छा लगता होगा पर वेचारे गुर्दे से भी सलाह तो करो कि तुम्हे कैसा लगता है। कितनी परेशानी है गुर्दे की। अधिक नमक खाने वाला गुर्दे की, किडनी की बीमारी से परेशान न हो, यह कैसे सभव होगा? क्योकि शरीर को तो इतना नमक चाहिए नही और जो विजातीय है उसे निकालना पडता है बेचारे गुर्दे को। छोटे से गुर्दे के पास नब्बे लाख छलनिया है। सारी छलनियो से काम लेना पडता है, फिर भी खाया हुआ सारा विजातीय तत्त्व निकालने मे वेचारा परेशान हो जाता है। इतनी छलनिया चलती है, किसी चक्की के पास जो आटा पीसने वाली है इतनी छलनियां नही मिलती। पर आदमी निगलता जाता है, डालता जाता है पेट मे। पर कभी गुर्दे की परेशानी का अनुभव ही नही करता। लीवर की परेशानी का अनुभव ही नही करता कि लीवर जितना पाचक रस डालेगी उतना ही तो छोडेगी। अवशेष गया हुआ पचेगा कैसे—यह पता ही नही है। चीनी खाते है। इतनी चीनी खाते हैं, खाने मे अच्छी लगती है पर कभी आतो से भी पूछो, पक्वाशय से भी पूछो कि कैसा होता है? इतनी अम्लता वढ़ जाती है कि सारी परेशानियां पैदा करती है। चीनी खाने मे मीठी लगती है और परिणाम क्या होता है, खटाई वढती है। ज्यादा चीनी खाने वाले को खट्टी डकारे आती है। अपच होता है। आवला खट्टा लगता है और विपाक मीठा होता है। भोजन का सतुलन होना चाहिए। वहुत वडी समस्या है, इस वारे मे ध्यान नही देते और भीतर मे मिथ्या आहार के कारण बहुत दूपित रसायन बनते है और वे मनुष्य को फिर चिडचिडा बनाते है या ज्यादा गुस्सैल बनाते है, या वात-वात मे उत्तेजित कर देते हैं या ज्यादा कामवासना को जगाते हैं। इन सारी विकृतियो को पैदा करने मे भोजन का वहुत बडा हाथ है। मानसिक असतुलन का चौथा कारण है—असंतुलित भोजन।

पाचवा कारण है—नाड़ी-सस्थान की दुर्वलता। नाडी-सस्थान के दो मुख्य अग है—एक मस्तिष्क और दूसरा सुषुम्ना का सारा हिस्सा। सुषुम्ना—शीर्ष और सुषुम्ना—स्पाइनल कॉर्ड (Spinal cord)। ये नाड़ी-सस्थान के दो महत्त्वपूर्ण अंग है। जिसका स्पाइनल कॉर्ड या पृष्ठरज्जु दूपित होता है, उसका सतुलन विगड जाता है। आप लोगो को कठिनाई होती है सीधे बैठने मे। अटपटा लगता है। कई वार कहा जाता है कि पृष्ठरज्जु को सीधा रखें। अरे! इसमे आपका कितना हित छुपा हुआ है। पृष्ठरज्जु सीधा आप शारीरिक और मानसिक कठिनाइयो से वच जाते हैं।

ढग है कि या तो लोग झुककर बैठेगे या टेढे बैठेगे। आयुर्वेद का शास्त्र—चरक कहता है कि पानी पीओ तो समकाय—सीधे रहो। टेढे होकर पानी मत पीओ। किसी से बात करनी हो तो टेढे होकर मत करो। रोटी खानी हो तो टेढे होकर मत खाओ। श्वास भी लेना हो तो टेढे होकर मत लो। सम रहो, जिससे कि सतुलन बराबर बना रहे। टेढे हुए तो सारी क्रियाओ मे अन्तर आने लग जाएगा।

नाडी-सस्थान की दुर्बलता, पृष्ठरज्जु की दुर्बलता और मस्तिष्क की दुर्बलता—ये सब असतुलन के कारण बनते हैं।

आजकल एक चिकित्सा पद्धति चली है—ओष्टियोपैथी। इस चिकित्सा मे और कुछ नही किया जाता, केवल स्पाइनल कॉर्ड पर कुछ प्रेशर दिया जाता है। सारे रोगो की चिकित्सा करते है। यहां रोगो की जड है। यही से सारे शरीर मे नर्वस् जाते है, फैलते है। ततुओ का, स्नायुओ का और धमनियो का जाल बिछा हुआ है, सब यही से होकर गया है। मूल यही है। यही से सारे अलग-अलग होते है। यह हमारा केन्द्रीय नाडी-सस्थान है और इसके दोनो ओर अनुकम्पी और परानुकम्पी नाड़ी-सस्थान है। यही से सारा का सारा सचालन हो रहा है। जब नाडी-सस्थान ही दुर्बल हो जाता है तो फिर सतुलन नही आएगा। ध्यान होगा ही नही, करे भी क्या? ध्यान तो तभी हो सकता है जब नाड़ी-सस्थान मजबूत होता है। कोई आदमी भारी-भरकम है—आपको लगेगा कि बडा हट्टा-कट्टा है, बडा स्वस्थ है। यदि शरीर मे मास कम है तो लगेगा कि यह तो थका, पतला-दुबला आदमी है। आप उनको कमजोर मान लेगे और उस भारी-भरकम को शक्तिशाली मान लेगे। यह मानना सही नही होगा।

'तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः'—जिसमे तेज है वह बलवान् होता है, स्थूल मे कोई विश्वास नही होता। मास का काम तो बहुत छोटा काम है। हमारे शरीर मे मूल है—नाडी-संस्थान। जीवन का अर्थ है—नाड़ी-संस्थान की सक्रियता। दो ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं—एक है नाडी-संस्थान और दूसरा है ग्रन्थि-संस्थान। ये ही सारा प्रकाश फैला रहे है। सब कुछ करा रहे है। मांस कोई बडी बात नही है। दूसरी धातुओ में उतनी ताकत नही है।

एक आदमी को ज्ञान हो रहा है कि अगुली हिल रही है, थोड़ा-सा छुआ, पता चल गया। किस आधार पर यह ज्ञान हुआ? जितने सेसेंशन होते हैं, जितने सबेदन होते हैं, वे सब नाडी-सस्थान के स्तर पर होते हैं। दो प्रकार के नर्वस् होते है—मोटर नर्वस् और सेसरी नर्वस्। सेसरी नर्व के द्वारा हमें ज्ञान होता है और मोटर नर्व के द्वारा क्रिया होती है। किसी अंगुली से कुछ छुआ तो सेसर नर्व से पता चल गया कि कोई ठंडी चीज

छुई है और अगुली हिलाने की जरूरत पड़ी कि उस चीज को हटा देना है तो हमारे क्रियातंतु काम करने लगे। उसको हटा दिया। सारा ज्ञान और क्रिया का सचालन इन नाडियो के द्वारा होता है। नाडी-सस्थान कमजोर हो जाता है तो सारा सतुलन गडबडा जाता है।

जो व्यक्ति अपने आवेशो, आवेगो पर नियन्त्रण करना नही जानता, धीमे-धीमे उसका नाडी-सस्थान कमजोर होता चला जाता है। एक बार गुस्सा आने का मतलब है कि आपके नाडी-सस्थान पर एक तेज धक्का दे दिया। अब बार-बार धक्के मारते ही चले जाएंगे बेचारा कब तक सहेगा। बहुत सहता आया है। इतना सहन करता है कि आपका लडका भी इतना सहन नही करता, आपकी पत्नी भी इतना सहन नही करती, वह भी आपको ठुकरा देती है। पर बेचारा नाडी-सस्थान तो ऐसा है कि मौन-भाव से आपके धक्को को सहन करता जाता है। आखिर जब देखता है कि बडा परेशान कर रहा है तो टूटना शुरू कर देता है। तब आदमी असतुलित होता है, विक्षिप्त होता है और होते-होते आदमी कभी अर्द्ध-पागल की स्थिति मे और कभी पूरे पागल की स्थिति मे चला जाता है।

मानसिक असतुलन के ये पाच कारण हमारे सामने हैं। हम चाहते है मानसिक सतुलन बना रहे। हम इसलिए चाहते है कि मन स्वस्थ रहे। मन शान्ति मे रहे। उसका यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—शरीर-प्रेक्षा, शरीर को देखना। इससे नाडी-सस्थान दृढ होता है और कुछ रसायनो की पूर्ति भी करता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि कुछ विटामिन हमारा शरीर पैदा करता है। सब बाहर से ही हम नही लेते है। हम भीतर से भी लेते है। सूर्य का ताप लगता है और विटामिन 'डी' अपने आप आ जाता है। इसका सबसे अच्छा स्रोत है—सूर्य का ताप। और भी बहुत सारे रसायन, प्रोटीन हमारा शरीर पैदा करता है पर करेगा तब जब हम अनावेग की स्थिति मे रहेगे। यह ध्यान का प्रयोग, मानसिक सतुलन का प्रयोग केवल मोक्ष पाने के लिए ही नही है, वर्तमान जीवन को सुख से जीने के लिए भी है।

जिस धर्म के द्वारा, साधना के द्वारा वर्तमान की समस्याओ का समाधान नही मिलता वह शायद हमारे लिए बहुत हितकर नही होती और बहुत उपादेय भी नही होती। हम अध्यात्म का, धर्म का पुनर्मूल्याकन करें और उसके द्वारा अपने जीवनगत वर्तमान की समस्याओ का समाधान करें।

ब्रह्मचर्य

इन्द्रियो का संयम साधना का प्रथम किन्तु बहुत दूरगामी सूत्र रहा है। प्रारम्भ यही से होता है किन्तु बहुत दूर तक जाता है। पांच इन्द्रिया है—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन। शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—ये पाच विषय है। एक अर्थ मे इद्रियो का जीवन ही वास्तव मे जीवन है। आदमी उन्ही को भोग रहा है और उन्ही के साथ जीवन को चला रहा है।

शब्द सुनता है, रूप देखता है, गंध सूघता है, रस चखता है और स्पर्श करता है। यदि यह न हो तो जीवन कुछ लगता ही नही कि जीवन है। प्रश्न है—ब्रह्मचर्य का। ब्रह्मचर्य के बारे मे कुछ धारणाए विचित्र सी हो गई है। स्पर्शनेन्द्रिय सयम को ही ब्रह्मचर्य के अर्थ मे स्वीकार कर लिया गया। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल स्पर्शनेन्द्रिय संयम ही नही है किन्तु पचेन्द्रिय सयम और इससे आगे विकल्प-सयम, स्मृति-सयम और चिन्तन-संयम भी है। मन और इद्रिय—इन सबका सयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का एक व्यापक अर्थ रहा है कि ब्रह्म मे जिसका चरण होता है वह है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी होता है, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा भी होता है और ब्रह्म का अर्थ गुरुकुलवास भी होता है। वास्तव मे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य यह गुरुकुलवास से संबधित था। जो गुरुकुलवास मे रहता है या गुरुकुलवास की चर्या का पालन करता है वह ब्रह्मचारी होता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। गुरुकुलवास मे रहने की विशेष चर्या थी—इद्रियो का सयम और मन का संयम। पर हमारी धारणा यह है कि ब्रह्मचारी रहे तो स्पर्श का सयम करे। स्पर्श का संयम भी कैसे होगा ? सब इन्द्रिया परस्पर जुडी हुई है। एक को टालकर दूसरे को नही सभाला जा सकता। यदि शब्द का संयम नही है तो स्पर्शनेन्द्रिय का सयम नही हो सकता। यदि चक्षु का सयम नही है तो स्पर्शनेन्द्रिय का संयम नही हो सकता। ये सारे उद्दीपन हैं। प्रत्येक रस के पैदा होने मे उद्दीपन आवश्यक होते है। जब उसके स्थायी भाव, सचारी भाव सब सक्रिय होते हैं और फिर उसको बन्द करना चाहते है, यह सभव नही होता। सभी का संवध है। उनमे रसन और स्पर्शन—इन दो का तो बहुत गहरा सवंध है। ब्रह्मचर्य के साथ रस का बहुत गहरा सम्बन्ध है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि मे रसन और स्पर्शन-ये परस्पर जुडे हुए हैं। दोनो का घनिष्ट सम्वन्ध है। एक को वश में करने पर दूसरा अपने आप

वश मे हो जाता है। अलग से प्रयत्न करना जरूरी नही होता। रसना पर नियमन नही होता, संयम नही होता, स्वाद का संयम नही होता और स्पर्शन इन्द्रिय के सयम की वात जागती है तो वडी कठिन वात है। अहिंसा का सम्वन्ध शरीर से भी है, पर शरीर की वह माग नही है। सत्य का सम्वन्ध, अचौर्य का सम्वन्ध, अपरिग्रह का सम्बन्ध शरीर है और मस्तिष्क से संवधित है। किन्तु ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध शरीर से भी है और मन से भी है। उसकी शारीरिक माग भी है और मानसिक माग भी है। पुराना सिद्धात कुछ दूसरा है कि वीर्य का स्खलन होता है तो ब्रह्मचर्य खडित होता है। वीर्य स्खलित नही होता, वह ऊपर चढ जाता है तो ब्रह्मचर्य होता है। उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। मैं तो ऐसा नही सोचता और ऐसा सभव नही है। कुछेक शब्दो का अर्थ इतना वदल जाता है कि हम एक रूढिगत अर्थ मानते चले जाते हैं। मानने की वडी आदत है। हर वात को मानते चले जाते हैं। जानने का प्रयत्न वहुत कम करते हैं। मूल तक, गहराई तक जाने की आदत वहुत कम होती है।

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से ऐसा कोई स्नायु या नलिका नही है जिससे वीर्य ऊपर जा सके। वीर्य की जहा ग्रथिया है वहा से कोई रास्ता नही है कि वीर्य ऊपर चढ सके। ऊर्ध्वरेता का अर्थ था—प्राणशक्ति को ऊपर ले जाने वाला। प्राण-विद्युत् ऊपर जा सकती है और ऊपर से नीचे आ सकती है। विद्युत पूरे शरीर मे फैल सकती है किन्तु वीर्य के लिए तो कोई रास्ता नही है। मूल मे वीर्य का अर्थ ही था—शक्ति, ऊर्जा। यह जो शुक्र, वीर्य और रजस् को एक अर्थ मे मान लिया गया है यह वडी भ्राति है। इन सवके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

कहा जाता है—**'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'**—विन्दु का पात होने से मरण हो जाता है और विन्दु का धारण होना ही जीवन है। विन्दु का मतलव ही शुक्र कर दिया गया। इससे भी वडी समस्या पैदा हो गई। अगर विन्दुपात से मरण हो तव तो कोई आदमी जी नही सकेगा। वडी कठिन वात है। बिन्दु का अर्थ ही प्राण-विद्युत् है। हमारे मस्तिष्क मे जो प्राण-विद्युत् है उसका क्षरण होता है तो मरण होता है। क्योकि जीवन का मुख्य आधार मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् और मस्तिष्क है। पूरे शरीर मे कोशिकाए नष्ट होती है और फिर नई वनती जाती है। मस्तिष्क ही एक ऐसा है कि जहा कोशिकाए नष्ट होती है पर उनका पुनर्निर्माण नही होता। सवसे ज्यादा सुरक्षा करने का साधन है हमारा मस्तिष्क और फिर प्राण-विद्युत्। अव इस पर ध्यान देना जरूरी है कि काम की तरंग जव पैदा होती है, उससे मस्तिष्क शात रहता है, आदमी उतना ही शक्तिशाली वनता है और मस्तिष्क जितना उद्विग्न, उत्तेजित या क्षुब्ध होता है, आदमी उतना ही

कमजोर होता है। ब्रह्मचर्य का इसी आधार पर मूल्यांकन किया गया है। कुछ लोग बड़े परेशान हो जाते है कि वीर्य-स्खलन हो गया। जिसके वीर्य-स्खलन हो गया वे ब्रह्मचारी नही मानते, बड़ी विचित्र बात है। कई लोग तो बडे चिंतित हो जाते है। यह कोई इतनी चिंता की बात नही है। अगर किसी दुर्भावना से, किसी उत्तेजना से वीर्य-स्खलन होता है तो सचमुच चिंता की बात है। यह बार-बार नही होना चाहिए। किन्तु एक प्राकृतिक नियम है कि जब वीर्य ग्रथियो मे समा नही सकता तो वह बाहर निकलता है। यह कोई चिंता की बात नही है। अनावश्यक चिंता भी आदमी को सताने लगती है। अब रहा प्रश्न ब्रह्मचारी का, सब व्यक्ति ब्रह्मचारी बन सकें, यह तो बहुत कठिन बात है, कठिन साधना है। सामान्य व्यक्ति अपने 'काम' की पूर्ति करते है और जीवन चलाते है। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो इस दिशा मे उसका सयम करना चाहते है, सयम करते है। अब प्रश्न है अति का। 'काम' का अतिसेवन भी खतरनाक होता है। उससे शक्तिया बहुत क्षीण होती है।

सुकरात से पूछा गया कि मनुष्य को सभोग कितनी बार करना चाहिए ?

उन्होने कहा—जीवन मे एक बार।

'यह सभव न हो तो ?'

'वर्ष में एक बार।'

'यह भी सभव नही हो तो ?'

'महीने मे एक बार।'

'यह भी सभव न हो तो ?'

'फिर कफन सिर पर रख लो और चाहे जैसे चलो।'

यह बिलकुल सही बात है कि जो अति है वह बहुत खतरनाक है। कुछ लोग जो मनोविज्ञान की भाषा मे सोचते है वे ऐसा भी सोचते हैं कि ब्रह्मचारी रहने वाला पागल हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। बात भी ठीक है। इसमे सचाई भी है कि अब्रह्मचर्य सुख है। इसमे कोई सदेह नही माना गया है। आदमी एक सुख को ठुकराता है, शरीर की माग को ठुकराता है तो प्रतिक्रिया होती है, कुछ विक्षेप होता है और पागलपन-सा आता है। किंतु यदि उससे दूसरा बड़ा सुख मिल जाता है तो पागलपन नही आता और अधिक आनद आने लग जाता है। यह पागलपन का जो प्रश्न आता है वह उस स्थिति मे आता है, जब आदमी प्राप्त सुख को छोडता है और दूसरा सुख कोई सामने नही होता। एक लकीर है। उसके नीचे बड़ी लकीर खींच दें तो पहले वाली अपने आप छोटी हो जाएगी। किन्तु लकीर कोरी रहती है तो बड़ी या छोटी की बात नही होती। बड़ा सुख उपलब्ध किया जाए तो फिर

यह वात अपने आप गौण हो जाती है।

उसकी साधना के कुछ सूत्र हैं। उन सूत्रो का आलम्बन लेने पर सहज सुख उपलब्ध होता है और उससे भी ज्यादा सुख उपलब्ध हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में अन्तर्यात्रा का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्यात्रा का अच्छा अभ्यास होने पर, सुषुम्ना मे चित्त की ऊपर और नीचे की यात्रा होने पर ऐमे सुख का अनुभव होता है कि जैसा शायद भोग मे भी नही होता।

दर्शनकेन्द्र पर वालसूर्य का ध्यान करते-करते ऐसे स्पदन जागते हैं, ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा सुख काम-सेवन मे भी नही होता। अगर हम इसके वैज्ञानिक कारण को समझ ले तो वात वहुत स्पष्ट हो जाएगी। सुख का अर्थ होता है—मन का सकल्प और विद्युत्-रसायन का योग होना। वास्तव मे जो सुख या दुःख का अनुभव होता है वह एक प्रकार की विद्युत्-धारा के साथ हमारे मन का योग से होने से होता है। एक प्रकार के रसायन के साथ हमारा मन जुडता है तो सुख का सवेदन वन जाता है। दूसरे प्रकार की विद्युत्-धारा या दूसरे प्रकार के रसायन के साथ मन जुडता है तो दु ख वन जाता है। योग होना मन का—यह एक वडी वात है। हम अपने भीतरी रसायनो के साथ, विद्युत्-प्रवाहो के साथ अपने मन को जोड सके तो वहुत सुख उपलब्ध हो सकता है।

दो ग्रन्थिया खोजी गई है सिर के पीछे, जिसे गुप्ति का भाग कहा जाता है। वहा छोटी-छोटी दो ग्रन्थिया हैं। वे परस्पर सटी हुई हैं। आज का वैज्ञानिक विश्लेषण यह है कि एक ग्रन्थि जाग जाए तो फिर चाहे जितनी भयकर घटना घटित हो जाए आदमी को कभी दु ख नही होगा और दूसरी ग्रथि जाग जाए तो चाहे जितनी अनुकूलता मिल जाए, वैभव मिल जाए, संपदा मिल जाए, भोग मिल जाए—उसे कभी सुख नही होगा। हमारी धारणा यह है कि सुख और दु ख हमे वाहर से मिलता है। किन्तु सचाई यह है कि इनका संवेदन भीतर मे होता है। पदार्थ हो चाहे न हो, कोई फर्क नही पडता। पदार्थ होने पर भी सुख-दु ख मिल सकता है। मिलेगा तभी जव उस प्रकार के प्रकम्पन और स्पदन हमारे मन मे जाग जाएगे, उस प्रकार की तरग जागेगी और विद्युत्-धारा का योग हो जाएगा। यह हमारी नितात सवेदना की प्रक्रिया है। हम जो नियमन करेंगे, सयम करेंगे, वह पदार्थ का नही करेंगे। हम सवेदना का नियमन करेंगे। इस सवेदना के रहस्य को समझ लेना ही ब्रह्मचर्य को समझ लेना है। जिस व्यक्ति ने सवेदन को नही समझा वह इस रहस्य को नही समझ सकता। वह केवल वाहरी वस्तु पर भटकता रहेगा, वाहरी पदार्थ पर

उलझता रहेगा। यह सही है कि बाहरी पदार्थ भी निमित्त बनता है, उस संवेदना को जगाने का निमित्त बनता है किन्तु सुख-दुःख देने का निमित्त नही बनता।

यौन हार्मोन्स का स्राव सब व्यक्तियों में होता है। पहले पीनियल ग्रन्थि के द्वारा उसे रोक लिया जाता है। वह नीचे नही जाता। जब बालक बारह-तेरह वर्ष का होता है तब पीनियल निष्क्रिय होने लगता है और यौन हार्मोन्स, उत्तेजना के जो हार्मोन्स है, ये स्राव नीचे जाने लगते हैं। यौन हार्मोन्स का गोनाड मे आना और उसे प्रभावित करना—यही है अब्रह्मचर्य। यह बिलकुल शारीरिक प्रक्रिया है कि वे हार्मोन्स आते हैं और गोनाड ग्रन्थि को प्रभावित करते हैं, कामग्रन्थि को प्रभावित करते हैं और तब काम-वासना की विचारधारा जाग जाती है। जिस व्यक्ति ने दर्शनकेन्द्र पर, ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान किया और उन यौन-हार्मोन्स को नियन्त्रित करना सीख लिया, उस व्यक्ति में परिवर्तन आ जाएगा।

कई प्रकार की वृत्तिया होती हैं। एक वृत्ति वह होती है, जिसमे यह वासना जागती ही नही। यह तो बहुत आगे की भूमिका है। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है किन्तु सताती नही और एक वृत्ति वह होती है, जिसमे वासना जागती है और निरन्तर सताती है।

अति-कामुकता, कामुकता और अकामुकता—ये तीन अवस्थाए बन जाती है। गृहस्थ के लिए अकामुकता वाली बात तो होती नही। वह कोई संन्यासी तो नही जो बिलकुल काम का संपर्क न करे। अब शेष दो वृत्तिया बचती है। एक तो काम का सेवन करता है और वासना उसे विवश कर देती है, उसे सताती है। वह सताए नही। व्यक्ति नियमन कर सके, इतनी क्षमता तो हर व्यक्ति मे जागनी चाहिए। उस पर हमारा नियन्त्रण रहे, हम पर हावी न हों, वे हमारी स्वामी न बने, हम उनके स्वामी बने। उन पर हमारा नियन्त्रण हो, और हम उन पर हावी हो। इतना ही करना है। आप वीतराग की दृष्टि से कभी न सोचें कि ध्यान करेंगे तो ससार कैसे चलेगा ? सब ब्रह्मचारी हो जाएगे, यह भी अति-कल्पना की बात होगी। यह कभी संभव भी नही है। और बड़े-बडे सन्यासियों के लिए भी कितनी कठिनाई की बात होगी यह भी जानते हैं। इस बात की चिन्ता न करे। यह सोचे कि यह बड़ी जटिल वृत्ति है, इस पर नियन्त्रण करने की थोडी-सी भी वृत्ति हमारी जाग जाये। नियन्त्रण में दो बातें है—एक नियन्त्रण होता है दमन से। एक नियन्त्रण होता है उदात्तीकरण से। दमन से और अधिक प्रतिक्रिया होती है और पागलपन वाली बात तब आती है जब आदमी वृत्ति को जबरदस्ती रोकता है, नियन्त्रण करता है, नियन्त्रण करता चला जाता है। दमन करता चला जाता है।

दमन की प्रतिक्रिया से स्वरूप चित्त मे क्षोभ पैदा होता है, एक प्रकार का पागलपन भी आ जाता है। पूरा नही तो व्यक्ति आधा पागल बन जाता है। जो लोग शादी नही करते उन्हे विक्षिप्त अवस्था मे हमने देखा है। यह स्थिति आ जाती है अतिनियत्रण के द्वारा। मै जिस नियमन की बात कर रहा हू वह जवरदस्ती बनाना नही है, किन्तु उस वृत्ति का उदात्तीकरण करना है। उस वृत्ति को इतना विशाल बना दिया जाता है व्यापक प्रयोग के द्वारा कि जिससे सताने की बात समाप्त हो जाती है। इसमे दमन नही होता, जवरदस्ती नही रोका जाता किन्तु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे वे हार्मोन्स कम स्रवित होते हैं और अपना कम प्रभाव जताते है। यह सारा साधना के द्वारा सभव होता है और इसमे चैतन्य केन्द्रो का ध्यान वहुत सहयोगी बनता है। जिन लोगो मे ज्यादा उत्तेजना, ज्यादा आवेग, ज्यादा कामवासना जागती है उनके लिए चैतन्य केन्द्रो का ध्यान ज्यादा उपयोगी है। ये सारी वृत्तिया नाभि के आस-पास जागती हैं। कामवासना गोनाड मे जागती है और उत्तेजना एड्रीनल के पास। उनके स्राव जव अधिक बढते है तव यह अधिक वाली बात होती है। अन्यथा जीवन मे जितना अपेक्षित और आवश्यक है उतना हो जाता है और शेष ध्यान दूसरी बात मे रहता है। अव एक स्थिति यह बन जाती है कि काम का तनाव इतना बढ जाता है कि उसके अलावा कुछ दिखता ही नही है। वहुत सारे लोग इस प्रकार पागल बन जाते हैं कि जिसको चाहते है उसका सयोग नही मिलता है तो आत्महत्या कर लेते हैं। न जाने कितने युवक-युवतिया आत्महत्या करते होगे। और भी न जाने कितने अपराध और कितनी समस्याए पैदा होती होगी। इसका कारण है कि उनमे नियन्त्रण करने की क्षमता नही है। पानी तालाव मे उतना ही आए जितना उसमे समा सकता है। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि नाले को बन्द किया जा सके। बाध है। उसमे उतना ही पानी आए जितनी उसकी क्षमता है। अतिरिक्त पानी आ जाए तो वाध टूटने का खतरा भी पैदा हो जाता है। यह माना गया है कि सामान्य आदमी मे यह भाव उतना ही आए जितना उसके शारीरिक, मानसिक आदि दृष्टियो से हानि न पहुचाते हुए अपना काम कर सके।

जिन लोगो ने ब्रह्मचर्य के इन पहलुओ पर शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से विचार नही किया वे ब्रह्मचर्य के बारे मे वहुत भ्रातिया पालते हैं। शारीरिक दृष्टि से जैसे मनोविज्ञान का सिद्धात है कि यदि आदमी कामभोग का सेवन नही करता है तो भी शरीर स्वस्थ नही रहता। यह एक बड़ी भ्राति है। जो लोग ब्रह्मचारी रहते है वे वहुत स्वस्थ रह सकते हैं। पर ठी बात है कि उसके साथ मानसिक स्तर पर विचार करना होगा

से वह अब्रह्मचर्य का सेवन नही कर रहा है पर मन से निरन्तर उसका सेवन कर रहा है तो वह शरीर से वच रहा है किन्तु मन विलकुल खुला है तो पागलपन जरूर हो जाएगा, कठिनाई पैदा होगी। उसके साथ-साथ जब शारीरिक सयम करना है तो पहले मानसिक सयम करने की वात सीखनी होगी कि मन से कैसे संयम करे और मन से संयम करने की वात सीखनी है तो आध्यात्मिक सयम की वात सीखनी होगी कि भीतर के स्रावो को, भीतर के रसायनो को कैसे नियंत्रित कर सकें एवं विद्युत् प्रवाहो को कैसे संतुलित कर सके। यह साधना करनी होगी। आध्यात्मिक साधना होगी तो मानसिक साधना होगी और मानसिक साधना होगी तो शारीरिक साधना होगी।

कुछ लोगो मे यह प्रश्न होता है कि जो ब्रह्मचारी होगा उसका शरीर तेजस्वी होगा, मजबूत और दृढ होगा। वह भी एक भ्राति है, वहुत वडी भ्राति है। अच्छा चमकता हुआ चेहरा तो उस व्यक्ति का होगा जिसका खून ज्यादा अच्छा है। हमने खोजा तो यह तथ्य निकला कि जो अच्छा खाता है, पीता है, पाचन अच्छा है और रक्त अच्छा वनता है तो उसका चेहरा चमकेगा। वैसे व्यक्ति को हमने देखा है, जो घोर अब्रह्मचारी है, उसका चेहरा ऐसा चमक रहा है मानो लहू टपक रहा हो। खोजा गया तो पता चला कि प्राचीन साहित्य मे ब्रह्मचारी के लिए कहा गया कि वह राख से ढकी हुई आग है—भीतर मे ज्योति है और ऊपर राख है। क्योकि उसने अपनी साधना के लिए तपस्या के द्वारा शरीर को इतना तपा लिया कि मास तो बहुत सूख गया है—बाहर से तो रुखा लग रहा है और भीतर मे ज्योति जल रही है। सतवाणी को देखा तो कवीर की वाणी मे मिला कि 'बाहर से तो कछु न दीखै, भीतर जली रही जोत।' बाहर से तो कुछ नही दिख रहा है भीतर मे ज्योति जल रही है। एक तेजपुज जैसा हो रहा है। आचार्य भिक्षु की वाणी मे मिला कि 'मांस लोही कम हुवै तपसी तणै'—जो तपस्वी है उसके मास भी कम होगा, रक्त भी कम होगा। वह तो वेचारा सूख जाता है। योगी का पहला लक्षण है—शरीर की कृशता।

धर्मचन्द ने एक सस्मरण सुनाते हुए कहा—अभी-अभी कलकत्ता मे मै एक योगी से मिला। उसको आप द्वारा लिखी गई योग की कुछ पुस्तके दी। उसने उलट-पुलट कर देखा। कुछेक वातो पर उसका ध्यान गया। उसने पूछा—इन पुस्तको में जो लिखा है वह अनुभव की वाणी है या केवल सिद्धांत की वात है? मैंने कहा—अनुभव की। फिर उसने पूछा—लिखने वाले का शरीर कृश है या चर्बी से भरपूर? मैंने कहा—अत्यन्त कृश। योगी वोला—ठीक है, मै समझ गया।

ब्रह्मचर्य के द्वारा उपलब्ध होती है—सहिष्णुता की शक्ति, बुद्धि की

प्रखरता यानी सूक्ष्म-सत्य तक पहुचने की शक्ति। ब्रह्मचारी मे इतना धैर्य होगा कि वह हर बात को सहन कर लेगा, अधीर नही बनेगा। धीर की परिभापा करते हुए कवि कहता है—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येपा न चेतासि त एव धीरा:—विकार का निमित्त होने पर भी जिसका चित्त विकृत नही होता, वह धीर होता है। यही धृति है। ब्रह्मचर्य के द्वारा धृति का विकास होता है। मनोबल का विकास होता है। लोग आश्चर्य करते हैं कि गाधी का एक मुट्ठी भर हड्डी का शरीर था इतना दुवला, पतला, सुन्दर भी नही थे, चमकता हुआ चेहरा भी नही था किन्तु मनोवल इतना था कि वडी से वडी सत्ता के सामने कभी झुकने या डरने की वात नही आती थी। जहा मरने की बात होती—सवसे आगे होते, कभी मन मे यह भय नही होता कि मै मारा जाऊगा। ब्रह्मचर्य से आत्म-विश्वास, मनोवल पैदा होता है। यह हमारी सूक्ष्मशक्ति है ब्रह्मचर्य की। इसके द्वारा आतरिक शक्तियो का विकास होता है। उसका शरीर से कोई बहुत सबध नही है, गहरा संवध नही है। यह ठीक है कि ब्रह्मचारी होगा तो नाडी-सस्थान कमजोर नही होगा, नाडी सस्थान बहुत मजबूत रहेगा। स्नायुशक्ति मजवूत रहेगी। मस्तिष्क की शक्ति वहुत मजबूत रहेगी और वहुत सक्रियता रहेगी। उसका सम्बन्ध आतरिक शक्तियो के विकास से अधिक है, शारीरिक शक्तियो के विकास से कम है।

निष्कर्ष की भापा मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है—सव इन्द्रियो का सयम और मन का सयम। जो व्यक्ति जननेन्द्रिय का सयम करना चाहता है उसे विशेष ध्यान देना होगा रसनेन्द्रिय के सयम पर। इसीलिए उस स्थान का नाम भी प्रेक्षाध्यान मे हैं—स्वास्थ्य केन्द। यानी वह स्वास्थ्य का केन्द्र है। आदमी उतना ही मन से और भावना से स्वस्थ होगा, जितना कि स्वास्थ्य केन्द्र उसका अधिक नियमित होगा, वश मे होगा, सधा हुआ होगा। जीभ पर सयम करना, जीभ को स्थिर करना, जीभ को शिथिल करना और मौन करना—ये सब उसमे सहायक वनते है। इन सवसे सहायता मिलती है।

ब्रह्मचर्य की तीन अवस्थाए हैं—

१ पूर्ण ब्रह्मचर्य।

२. सीमित ब्रह्मचर्य।

३ अब्रह्मचर्य—उच्छृंखल ब्रह्मचर्य।

ये तीन मार्ग है। तीसरे मार्ग को तो छोडना है। उच्छृंखल ब्रह्मचर्य को छोडना है। दो मार्ग शेष रह जाते हैं। वह अपनी शक्ति पर निर्भर है। जिसको यह लगे कि मै पूरे ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता हूं तो सबसे अच्छी वात है। जिसको लगे कि यह सम्भव नही है तो फिर सीमित ब्रह्मचर्य की

बात हो सकती है। इसे कहा जाता है अणुव्रत की भाषा मे 'स्वदार-सतोष'– अपनी पत्नी मे सतोष करना। न वेश्यागमन, न परस्त्रीगमन, न कन्यागमन। इनका बिलकुल परित्याग करना। यह एक प्रकार से सीमित ब्रह्मचर्य हो गया।

जब हमारा दृष्टिगमन साफ हो जाता है और हम स्वास्थ्य की दृष्टि से—शारीरिक, मानसिक और आंतरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते है तो इन दोनो में से एक रास्ते का चुनाव हो सकता है। किन्तु तीसरे रास्ते का चुनाव तो सर्वथा नही हो सकता। वह हमारे लिए सर्वथा वर्जनीय होता है।

ये प्रश्न है सेक्स के विषय मे। इन प्रश्नों पर हमने सक्षिप्त-सी चर्चा की। बहुत आवश्यक भी है यह चर्चा। क्योकि यह स्थिति आज के वातावरण मे बहुत जटिल बनती जा रही है। और विशेषतः युवको मे, युवतियो मे, बच्चो मे बहुत जटिल बनती जा रही है। क्योकि इस बारे मे उन्हे कोई ज्ञान नही है, कोई प्रशिक्षण नही है और कभी-कभी प्रशिक्षण की बात चलती है तो प्रशिक्षण मे भी संकोच करते है। यह संकोच जैसी बात तो नही है। बच्चों मे बहुत बुरी आदते न पडे क्योकि बचपन से ही कुछ प्राकृतिक, अप्राकृतिक स्थितिया बनने लग जाती हैं। अप्राकृतिक ढंग से वीर्य का नाश करने वाला व्यक्ति सचमुच पागलपन की स्थिति मे जाता है और शून्य हो जाता है। शक्तिया उसकी चुक जाती है और फिर उसकी स्नायविक दुर्बलता हो जाती है। उसकी वश की बात नही रहती। यदि प्रारम्भ से ही बच्चो को उसके प्रति सावधान किया जा सके तो इसके अच्छे परिणाम आ सकते है। इसमे अहित नही होता, हित की बात ही आती है। किन्तु लोग समझते हैं कि यह लज्जा का विषय है। लज्जा का विषय क्या है? ज्ञान होने पर उनके हित और कल्याण की बात है और ज्ञान न होने पर शायद ज्यादा अहित की बात हो सकती है। इन सारे पहलुओ से इस विषय पर हम चिन्तन करें। यह विषय सचमुच हमारे लिए बहुत उपयोगी है।